१

आदर्श-साध्वी रत्नश्री

संपादक—
श्रीराजेन्द्रलाल डोसी
"चन्द्र"

शोभा-चन्द्र-पुस्तकमाला का १ ला पुष्प

आदर्श-साध्वी रत्नश्री

लेखक
श्रीराजेन्द्रलाल डोसी
"चन्द्र"
व्याकरण-विशारद, साहित्य-विशारद,
न्याय-तीर्थ, जैनन्याय-तीर्थ

" नर सहस्र महँ सुनहु पुरारि,
कोउ इक होइ धर्मव्रतधारी;
धर्मशील कोटिक महँ कोई,
विषय-विमुख विराग-रत होई। "
—रामचरितमानस

मिलने का पता—
जवरचंद शोभाराम डोसी
चौक बाजार, महीदपुर (मालवा)

सर्वाधिकार सुरक्षित है

प्रथमावृत्ति
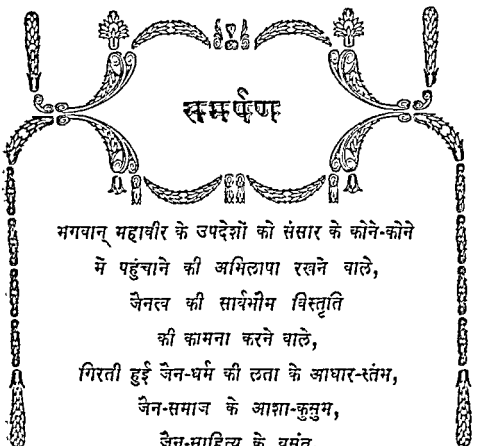
सजिल्द २] संवत् १९९६ [सादी १॥)

प्रेमोपहार

समर्पण

भगवान् महावीर के उपदेशों को संसार के कोने-कोने
में पहुंचाने की अभिलाषा रखने वाले,
जैनत्व की सार्वभौम विस्तृति
की कामना करने वाले,
गिरती हुई जैन-धर्म की लता के आधार-स्तंभ,
जैन-समाज के आशा-कुसुम,
जैन-साहित्य के वसंत,
और
ज्ञान-सौभाग्य के निधि

युवक एवं युवतियों
के
कर-कमलों में

—लेखक

इदं जड़ामिति श्रुतिः
खलु न यत्र संभाव्यते,
तथा च नहि घर्षणे-
र्जनितसंकटो दृश्यते;
न दीन-जन-दुर्लभ-
स्तदपि धीमतां भूषणम्,
नमामि सुगुरुं सदा
कमपि सद्गुणं 'रत्नकम्'।

—लेखकः

जिन उदार सज्जनों नें पाहिले से ग्राहक बनकर इस पुस्तक के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया है, उन्हें सहर्ष धन्यवाद दिया जाता है। उन्होंके नाम पुस्तक-संख्या के सहित इस प्रकार है—

पुस्तक-संख्या	नाम
३४	श्रीयुत मिश्रीलालजी गोलछा फलोधी।
२५	,, अमीचंदजी कांस्ट्या भोपाल।
२१	,, शंकरलालजी गोलछा फलोधी।
२१	,, अंबालालजी डोसी भोपाल।
१७	,, समीरमलजी गोलछा फलोधी।
१७	,, शोभारामजी डोसी महीदपुर।
१७	,, राजमलजी धोका महीदपुर।
११	,, गोड़ीदासजी भंडारी भोपाल।
१०	,, चंपालालजी वैद फलोधी।
७	,, चांदमलजी बुबक्या फलोधी।
७	,, मूलचंदजी कोचर फलोधी।
७	,, ताराचंदजी डोसी भोपाल।
७	,, नेमीचंदजी चोरड्या गोंदिया।
७	,, सागरमलजी संचेती जयपुर।
५	,, अखेराजजी गोलछा फलोधी।
३	,, करनराजजी कानुगा फलोधी।
३	,, केसरीमलजी जिंदाणी टोंक।
३	,, रूपचंदजी चोपड़ा महीदपुर।
३	,, केसरीमलजी चोपड़ा बैठू (मारवाड़)।

विषय-सूची

प्रकाशक का वक्तव्य

में बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि आज हम पाठकों के सामने श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब का जीवन-चरित्र लेकर उपस्थित हो रहे हैं। इसने 'शोभाचन्द्र-पुस्तकमाला' नामक एक ग्रन्थमाला शुरू की है, उसका यह प्रथम पुष्प है। यदि हमारे गुणग्राहक पाठकों ने इसका समुचित समादर किया तो आगे उपर्युक्त ग्रन्थमाला से और भी नये-नये मौलिक ग्रन्थ पाठकों की सेवा में उपस्थित करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक लिखकर तो जेठ महिने में ही तैयार हो गई थी, लेकिन पहिले से ग्राहक बनाने की योजना तैयार करने और उसके कार्यरूप में परिणत हो जाने में विलंब हो जाने से इसके प्रकाशित करने में देरी होगई।

इस प्रकार की योजना के बनाने में यह सोचा गया कि एक तो इससे श्री महाराज साहब के प्रति उनके भक्तों की कितनी भक्ति है—यह देखने का मौका मिलेगा। दूसरे, इससे उनके प्रत्येक भक्त को इस सत्कार्य में सहयोग देने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

श्रीमहाराज साहब के भक्तों में से कुछ ने यथाभक्ति सहयोग दिया और कुछ ने बिलकुल नहीं। फलतः २०० ग्राहक बने। लेकिन प्रकाशन की आवश्यकता बराबर पूर्ण न हुई। इनमें से कुछ का मूल्य पेशगी प्राप्त हुआ और कुछ का नहीं, सिर्फ वचन मिले; हालांकि पेशगी मूल्य भेजने की पहिले से अपील की गई थी।

प्रस्तुत पुस्तक में परिशिष्ट-खंड में चतुर्थ-प्रकरण ' श्रद्धांजलि ' का रखा गया था। उसमें श्रीमहाराज साहब के हर एक भक्त के प्रति, अपनी-अपनी भक्ति को एवं श्रीमहाराज साहब के उपकार से जन्य कृतज्ञता की भावना को शाब्दिक-रूप-प्रदान द्वारा प्रकट करने का मौका दिया गया था। लेकिन खेद है कि श्रीमहाराज साहब के बड़े-बड़े भक्तों में से भी किसीने उनके प्रति दो शब्द भी नहीं लिखे। यदि यह प्रकरण योजना के अनुसार तैयार होता तो यह श्रीमहाराज साहब को एक बृहद् मानपत्र के रूप में रहता। बड़ा दुःख है कि ऐसे महात्मा से भी लोग कृत्रिम व्यवहार करना नहीं चूकते। केवल भोपाल से श्रीयुत कांस्ट्याजी ने स्वयं कुछ लिखकर भेजा था और वहां के श्रीसंघ ने भी सब के हस्ताक्षर सहित कुछ लिखवा कर भिजवाया था। इसके लिये हम उन सबों को सहर्ष धन्यवाद देते हैं। सिर्फ दो श्रद्धांजलि प्रकाशित कर नया प्रकरण बनाना ठीक न समझा गया। इसलिए वह प्रकरण ही विवश होकर पुस्तक में से हमें निकाल देना पड़ा। श्रीयुत कांस्ट्याजी और भोपाल का श्रीसंघ उनकी श्रद्धांजलि प्रकाशित न करने के लिये हमें क्षमा करेंगे। यदि आगे कुछ लोग श्रद्धांजलि भेजेंगे और उनकी संख्या पर्याप्त होजायगी तो अगले संस्करण में वे सब प्रकाशित की जायंगी।

पुस्तक की सुन्दरता के बारे में यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है, लेकिन प्रकाशन की शीघ्रता के कारण यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो कृपया पाठक-गण हमें सूचित करेंगे।

आशा है हमारे सहृदय एवं गुण-ग्राहक पाठक-गण इसका उचित आदर करेंगे।

—प्रकाशक

पुस्तक के लेखक
श्रीराजेन्द्रलाल डोसी 'चन्द्र'

भूमिका

इस कर्ममय—क्रियाशील जगत् में प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नति करना चाहता है। वह उन्नति चाहे जिस दिशा में हो, इसका विचार नहीं। जिस मनुष्य की जिस ओर नैसर्गिक रुचि (Natural Tendency) होगी, वह उसी ओर ऊंचा उठने के लिये अवश्य प्रयत्नशील होगा। यह मानव-स्वभाव है। यह बात अलग है कि उसका प्रयत्न ठीक मार्ग की ओर हो रहा है, या नहीं। यही कारण है कि कोई सफल होता है, और कोई नहीं।

किसी भी दिशा में मनुष्य उन्नति करे, उसे—जहाँ तक वह पहुंचना चाहता है—उस श्रेणी तक पहुंचे हुए व्यक्ति को, या उस श्रेणी की कल्पित मानसिक मूर्ति को अपना आदर्श बनाना पड़ता है। सामने अपना कोई भी आदर्श और ध्येय रखे बिना किसी भी दिशा में प्रयत्नशील होना अंध-प्रगति के समान है। इस प्रकार प्रयत्नशील होने से वह न जाने किस ओर वह निकले, इसका कोई निश्चय नहीं रहता। इसीलिए अपने इष्ट-स्थान को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक समझदार मनुष्य अपने सामने कोई भी आदर्श और ध्येय को रखता है, और उसीको लक्ष्य कर आगे कदम बढ़ाता है। इस तरह मानव-जगत् के संमुख उच्च आदर्श, उच्च ध्येय और उसके प्राप्त करने के मार्ग को रखना तथा उसके नये मार्ग के अनुसंधान करने में प्रवर्तक, सहायक और दिग्दर्शक होना आदि ये महापुरुषों के जीवन-चरित्र के

कार्य हैं। महापुरुषों के जीवन-चरित्र के अध्ययन से ही मनुष्य उच्च आदर्श एवं उच्च ध्येय को अपने संमुख रखने और उसको प्राप्त करने के लिये मार्ग तथा उपायों के अनुसंधान करने में सफल होता है। महापुरुषों के जीवन-चरित्र के पठनादि से ही मनुष्य यह जान सकता है कि वह किस श्रेणी पर है, तथा वह कहां तक और किस मार्ग से पहुंच सकता है। यही महापुरुषों के जीवन-चरित्र का उपयोग है, तथा उनके लिखने और अध्ययन करने का ध्येय है। इसीलिए साहित्य के सुंदर मंदिर में जीवन-चरित्र का एक अलग स्थान है।

इसी ध्येय को संमुख रख कर आज मैं एक महान् आत्मा के जीवन-चरित्र को पाठकों के सामने रखने के लिये प्रवृत्त हुआ हूं। प्रस्तुत पुस्तक आदर्श जैन-साध्वी श्रीमती रत्नश्रीजी महाराज साहब का जीवन-चरित्र है। आज हमारे समाज में जिस प्रकार की हवा चल रही है, जिस ओर हमारे समाज के कर्णधार अग्रसर हो रहे हैं और जिस प्रवाह में हमारे समाज का अधिकांश भाग बहा जा रहा है, वे सब हमारे समाज के लिये कितने घातक हैं, उन्होंनें हमारे समाज को कितना अवनत बनाया है और हमारे समाज के प्रत्येक अंग में दृष्टिगोचर होने वाले सांप्रदायिकता के भयंकर ज़हर तथा पारस्परिक राग-द्वेषादि दुर्गुणों की उत्पत्ति में उनका क्या हाथ है—यह हर एक विचारशील मनुष्य जान सकता है। प्रस्तुत महाराज साहब का महत्त्व इसी बात में है कि वे उन बातों से सर्वथा पृथक् हैं। इतना ही नहीं, इन्होंनें अपने जीवन में उन बातों को रोकने और उन दुर्गुणों को समाज से बाहर निकाल फेंकने के लिये यथा-शक्ति प्रयत्न किया है। इसके लिये भयंकर परीषहों का कष्ट भी इनको उठाना पड़ा है और उनको इन्होंने हंसते-हंसते सहन किया है। इस प्रकार का त्याग

और कष्टसहिष्णुता हमारे समाज के कर्णधारों में बहुत कम देखने को मिलती है। इन्हीं गुणों से श्रीमहाराज साहब समाज में एक आदर्श साध्वी हैं। इस आदर्शत्व के प्रयोजक और भी अनेक गुण श्रीमहाराज साहब में विद्यमान हैं, उन्हें पाठक-गण आगे पुस्तक में पढ़ेंगे ही। उनको फिर उद्धृत कर हम यहाँ पुनरुक्ति नहीं लाना चाहते।

पहले-पहल श्रीमहाराज साहब का परिचय मुझे संवत् १९८८ में महीदपुर में हुआ था। उस समय श्रीमहाराज साहब का यहीं चातुर्मास था और ग्रीष्म-ऋतु में यहीं एक दीक्षा भी थी। मैं उस समय इंदौर के महाराजा-होलकर-संस्कृत-कॉलेज में व्याकरण पढ़ता था और ग्रीष्म-ऋतु के अवकाश (Summer Vacation) में यहां आया हुआ था। दीक्षा के अवसर पर वह परिचय सिर्फ कुछ वार्तालाप के रूप में रहा।

बाद में श्रीमहाराज साहब का एक चातुर्मास और महीदपुर में हुआ। मैं भी छुट्टियों में यहां आता, तब दो-चार वक्त इनसे मिल आया करता।

तदनंतर इनके दो चातुर्मास भोपाल में हुए। उसके बाद से ये अपनी शारीरिक भयंकर अस्वस्थता के कारण यहीं विराजमान हैं। उस समय भी मैं छुट्टियों में एक-दो बार इनसे मिल लिया करता था। संवत् १९९१ और १९९२ में मैं क्रम से जैन-न्याय और नव्य-प्राचीन-न्याय की तीर्थ-परीक्षा में बैठा और पूर्ण सफलता के साथ (First Class First) उत्तीर्ण हुआ। मैं विद्वानों में गिना जाने लगा और यहां सार्वत्रिक प्रशंसा का पात्र भी बना। उस वक्त जब-जब श्रीमहाराज साहब से मैं मिलने जाता, तब ये मेरा शिष्टता एवं सभ्यता के नियमों के अनुसार बराबर सत्कार किया करती थीं।

वैयावच्छेदेन गुरु-पद पर विराजमान एक जैन साध्वी के इस प्रकार किये गये ज्ञान एवं ज्ञानी के प्रति समादर देख कर मेरा हृदय कुछ-कुछ श्रीमहाराज साहब की तरफ आकर्षित हुआ और इनके प्रति कुछ श्रद्धा भी मेरे हृदय में उत्पन्न हुई। मेरे हृदय नें कहा—इस प्रकार की सरलता एवं ज्ञान के प्रति विनय अन्यत्र तुमनें नहीं देखा है। मैंनें सोचा—यह मेरा आदर नहीं, मेरे ज्ञान का आदर है। ऐसी मूर्ति हर जगह देखने को नहीं मिलती।

उस समय मेरा इनका गुरु-शिष्य-संबंध नहीं था। मेरे हृदय में इनके प्रति गुरुत्व की भावना भी नहीं थी। मैं तो उस वक्त सिर्फ एक जैन-साध्वी के पद पर विराजमान होने के कारण वैयावच्छेदेन गुरुत्व की भावना लेकर मिलने के लिये इनके पास जाता था। इसीलिए मैंने यहां 'दर्शन'–शब्द का प्रयोग न कर मिलने का प्रयोग किया है।

अनंतर संवत् १९९३ में मेरी शादी हुई। इस संबंध से भोपाल वाले सेठ साहब श्रीयुत अमीचंदजी कांस्टया मेरे मासा-श्वसुर हुए। वे श्रीमहाराज साहब के परम-भक्त हैं। इस संबंध से मेरा हृदय श्रीमहाराज साहब के और अधिक निकट संपर्क में आया। शादी के समय उस उत्सव में संबंधि-जन-प्रयुक्त अनेक बाधाओं को उठती देख मेरा और मेरे अभिभावकों का हृदय अत्यंत चिंता-ग्रस्त हो उठा। वह उत्सव एक विपत्तिरूप होगया, इसलिए मेरे और मेरे अभिभावकों के हृदय में उत्सव-जन्य आनंद के बजाय यह भावना पैदा होने लगी कि यह उत्सव नहीं, एक बला आई है, यह टल जाय तो गंगा नहाये।

ऐसे विषम समय में श्रीमहाराज साहब नें योग्य सलाह, आशीर्वाद और सहानुभूति के द्वारा उन बाधाओं से बचने के लिये पर्याप्त

सहयोग दिया। फलतः मेरा हृदय श्रीमहाराज साहब के प्रति और अधिक आकर्षित हुआ, अधिक श्रद्धा के भाव दिल में पैदा होने लगे।

बाद में मेरी जीवन-पुस्तक के उज्वल—चमचमाते पृष्ठ बंद हुए और भीषण विपत्तिमय काले पृष्ठ खुलने लगे। घर में भयंकर बीमारी आई, पत्नी के पेट का ऑपरेशन हुआ, वह यम के मुंह से निकल कर आई, भयंकर मानसिक आघात होने लगे, हृदय विदीर्ण होगया, मेरा भी स्वास्थ्य बिगड़ा, उस कारण मुझे भी एक-दो वक्त नया ही जीवन मिला, चारों ओर से हृदय पर प्रहार होने लगे, मन अत्यंत चिंताक्रांत हो गया, शांति का एक भी आधार न रहा, मेरी जीवन-नौका विपत्ति के तूफान में फंस गई और वहां से निकलना कठिन हो गया। पढना-लिखना ताक पर धरना पड़ा। कविवर इक़बाल का यह शेर बार-बार मानस में उठने लगा—

"आजादियें कहां वे अब अपने घोंसले की,
अपनी खुशी से आना अपनी खुशी से जाना।"

ऐसे भीषण अंधकारमय समय में श्रीमहाराज साहब ने यथा-संभव सहानुभूति एवं समवेदना प्रकट की, इस भयंकर अंधकार से बचने और प्रकाश में आने के लिये मार्ग बतलाए तथा समय-समय पर योग्य सलाह प्रदान की। तात्पर्य यह कि श्रीमहाराज साहब ने मेरी इस विपत्ति में पर्याप्त रूप से हाथ बटाया। ऐसे समय में इनके आत्मिक तेज, शक्ति एवं प्रभाव से भी मुझे परिचित होने का मौका मिला। नतीजा यह हुआ कि मैं इनका एक भक्त बन गया। तभी से हमारे बीच गुरु-शिष्य-संबंध स्थापित हुआ।

अनंतर संवत् १९९४ में यहां से मांडवजी का संघ निकला। उसमें वे भी गई। उस समय तक मेरा हृदय इनकी ओर बहुत आक-

पित हो चुका था। अतः मैं भी इनको पहुंचाने उद-पात गाइन्स तक गया। वहां से लौटने पर श्रीमहाराज साहब के अभाव में मुझे सब शून्यवत् प्रतीत होने लगा। उस वक्त मुझे अनुभव हुआ कि श्री-महाराज साहब का मेरे जीवन में क्या स्थान था! श्री महाराज साहब का वास्तविक मूल्य पहले-पहल मैंने उसी समय समझा। मेरे मन ने ये सिद्धांत स्थिर किये—"विरोधी तत्त्व के अनुभव के बिना किसी भी वस्तु का वास्तविक स्वाद नहीं मिलता; किसी के वियोग होने पर ही यह मालुम होता है कि उससे हमें क्या सुख-दुःख था, उसका हमारे जीवन में क्या स्थान था। कड़वे मुंह को ही मिठास का मज़ा मिलता है। दुःख के बाद ही सुख खिल उठता है। यदि रात्रि का अंधकार न हो तो चन्द्रिका का महत्त्व कम हो जाए।"

श्रीमहाराज साहब मांडव से वापस लौटे। उनके उपदेश का मेरे दिल पर बड़ा असर हुआ। मैंने सर्व-प्रथम उसी समय धर्म के पुनीत पथ की ओर कदम बढ़ाये। प्रतिदिन नियमित रूप से भगवद्भजन—ईश-प्रार्थना करने लगा। उससे कुछ मानसिक शांति प्राप्त हुई।

बाद में जैसे-जैसे मैं श्री महाराज साहब के निकट संपर्क में आता गया, वैसे-वैसे मेरा हृदय इनके गुणों से और इनकी जीवनी से मुग्ध होता गया। इसके पहले मेरा हृदय इतना किसी भी साधु या साध्वी की ओर आकृष्ट न हुआ था। कृतज्ञता के भावों से मेरा मानस-मंदिर आर्द्र हो उठा। कभी-कभी मगज़ में ये विचार बिजली-से चमकने लगे कि यदि महाराज साहब का जीवन-चरित्र लिखा जाय तो समाज के लिये बड़ा उपयोगी होगा। लेकिन ये विचार कभी भी स्थिर न हुए।

गत-वर्ष भाद्रपद मास में एकदम मुझे ये विचार आये कि मैं श्रीमहाराज साहब का जीवन-चरित्र लिखने का कार्य हाथ में लूं।

यद्यपि पहले मैंने छोटे-छोटे लेखों के सिवाय कोई पुस्तक न लिखी थी और न मैं इस विषय में पूर्ण अभ्यस्त ही था। इस विचार का कारण तो श्रीमहाराज साहब के प्रति मेरे हृदय में रहने वाली भक्ति और उसमें उठने वाली कृतज्ञता की भावना थी। दूसरे, कई सामाजिक एवं सांप्रदायिक प्रश्नों पर बहुत से विचार मेरे दिल में उमड़ रहे थे। मैंने उनको भी इस मिष से जनता के सामने रखने का सुअवसर देखा। मैंने सोचा कि परिणामतः सुन्दर एवं हितकारी, तथापि आपाततः कड़ुए उन उग्र एवं क्रांतिकारी विचारों को एकदम जनता के सामने रख देने से वह भड़क उठेगी, और उनके सम्यक्तया ग्रहण न करने से जितना चाहिये, उतना लाभ न हो सकेगा। अतः श्रीमहाराज साहब के जीवन-चरित्र रूपी शक्कर का उन पर पुट दिया जाय तो यह कड़वी औषध भी समाज को सुकरतया ग्राह्य होसकेगी। इन्हीं विचारों से मैं इस पथ की ओर अग्रसर हुआ।

शीघ्रता से श्रीमहाराज साहब से पूछ-पूछ कर नोट्स लिये जाने लगे और पुस्तक लिखने का कार्य शुरू हुआ। पूर्व-खण्ड समाप्त हुआ और काम स्थगित होगया। परीक्षाओं की तिथियें निकट आचुकी थीं, अतः अभ्यास करना अत्यावश्यक था। मैं उस ओर भिड़ पड़ा, तो इधर का काम रुक गया। बीच में दौर्भाग्य से बीमार पड़ा और बड़े पुण्य से ही नव-जीवन प्राप्त किया। परीक्षा भी गई और यह काम भी अधूरा रहा। तबियत अच्छी होने पर फिर इस ओर लगा और जल्दी से इसको समाप्त किया।

प्रस्तुत पुस्तक के बारे में कुछ कहने के पहिले मैं प्राचीन एवं आधुनिक जैन-साहित्य की तरफ ज़रा पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं।

अपना प्राचीन जैन-साहित्य बड़ा विशाल, गहरा और सभी अंगों से परिपूर्ण है। यह तो अजैन विद्वान् भी स्वीकार करते हैं कि भारतवर्ष में जैन-साहित्य की बराबरी दूसरा कोई भी साहित्य नहीं कर सकता। प्राचीन समय में जैन-विद्वानों नें लाखों पुस्तकों को लिख कर जैन-साहित्य के भांडार को भरा है। यहां तक कि कोई-कोई विद्वान नें तो अकेले अपने जीवन में साड़े तीन करोड़ श्लोक-परिमित उत्तमोत्तम ग्रंथ प्रायः सभी विषयों में लिखें हैं। ऐसे महात्मा आपको संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिलेंगें।

लिखते हुए बड़ा दुःख होता है कि वही हमारा साहित्य आज अयोग्य व्यक्तियों से खराब किया जारहा है। आधुनिक अपना हिन्दी और संस्कृत का साहित्य देखिए, वह साहित्य की कक्षा में भी आने लायक नहीं रहता। जिस साहित्य के उद्यान को हमारे पूर्वजों नें अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थरूपी सुगंधि वृक्षों से सजाया था, और जिसकी सुरभि से समस्त संसार सुरभित हुआ है, वही उद्यान आज बँबूल आदि कांटेदार वृक्षों से कंटकित एवं खराब किया जारहा है। जिस साहित्य के विशाल मंदिर को हमारे प्राचीन आचार्यों नें अनेक रंगों से रंगा है, वही मंदिर आज दुर्ग्रन्थरूपी पङ्क-गोमय आदि दूषित पदार्थों से भद्दा एवं दुर्गान्धित बनाया जारहा है। इतना होने पर भी किसी का भी लक्ष्य इस तरफ नहीं जारहा है। यह बड़ी हो खेद-जनक एवं एक सहृदय साहित्य-सेवी के लिये हृदय-विदारक बात है। इस दोष को निवारण करने के लिये हमारे साहित्य में समालोचना के प्रचार की अत्यंत आवश्यकता है। चाहे बड़े-से-बड़े आचार्य की भी लिखित पुस्तक क्यों न हो, उसकी भी निर्भयता-पूर्वक निष्पक्ष समालोचना होना ही चाहिये। इसमें डरने की कोई बात नहीं है।

सोने की शुद्धाशुद्धत्व की जांच के लिये उसको कसौटी पर घीसना और आग में डालना ही पड़ेगा। सच्चा सर्राफ तो यह नहीं विचार करेगा कि सोने को कसौटी पर घीसकर और उसको आग में तपाकर उसकी यथार्थता बतलाने से सोना या उसका मालिक ही बुरा मानेगा। इसी तरह सच्चे बैंकर का तो यही कर्तव्य है कि खोटे रुपये के सामने आजाने पर वह उसे काट ही डाले। उसी प्रकार हमारे समाज में सच्चे समालोचकों के तैयार करने की जरूरत है, जो साहित्य के गुण-दोषों को हंस-क्षीर-न्याय से अलग-अलग पाठकों के संमुख रखने में समर्थ होसकें। इसीसे आज-कल की साहित्यिक अंधाधुंधी मिट सकेगी, और साहित्यक्षेत्र में सच्चा उपादेय साहित्य ही स्थान पासकेगा। समालोचना के प्रचार से ही हम अपने समाज में उच्च लेखक तैयार कर सकने में समर्थ होंगे। अस्तु।

अब मैं पाठकों के संमुख आधुनिक साहित्य का कुछ नमूना रखता हूं, जिससे मेरी उपर्युक्त उक्ति की यथार्थता मालुम हो।

कोटा से एक जिनदत्त-चरित्र प्रकाशित हुआ है। उसमें टाइटिल पेज के पीछे ही मंगलाचरण रूप में श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति की गई है। स्तुति संस्कृत में इस प्रकार है—

पार्श्वं नाथं वंदे भक्त्या ॥ १ ॥ सर्वे बुद्धा रक्षन्तु वः ॥ २ ॥
जैनोद्धारं भूयात्सिद्धयै ॥ ३ ॥ पार्श्वो यक्षः साह्यं कुर्यात् ॥ ४ ॥

बड़े अक्षरों के पदों का विचार करिये। दूसरे पद में छंदोभंग है। "मो मो गो गो विद्युन्माला" इस विद्युन्माला के लक्षण के अनुसार आठों अक्षर उसमें गुरु होना चाहिये। यहां पर 'तु' ह्रस्व है। खैर। उद्धार-शब्द के पुल्लिंग मे होने पर भी उसे जबर्दस्ती नपुंसक बनाया गया है। दूसरे, छंद में फिट् करने के लिये 'जिन' को 'जैन' बनाया

गया। चतुर्थ पद का 'साह्यं' देख कर तो बेचारी संस्कृत-सरस्वती भी अपनी दुर्दशा पर चार आंसू बहावेगी। 'साहाय्यं' को छंद के खांचे में बैठाने के लिये तोड़-मरोड़ कर—छील-छाल कर 'साह्यं' बनाया गया। इसे देख कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतनी बड़ी गलती! और वह भी एक विद्वद्वर्य, प्रखरवक्ता और सिद्धांतवेदी के हाथ से!! राम-राम!!!

मैंने यहां पर विद्यमान दो साध्वीजी से और मेरे छोटे भाई से, जो कि भांडारकर की द्वितीय पुस्तक पढ़ रहे थे, पूछा। उनका भी जोरदार शब्दों में यही उत्तर मिला कि 'सहायता' का वाचक 'साहाय्यं' ही होता है, 'साह्यं' नहीं; यह तो एक साधारण हिन्दी पढ़ा-लिखा मनुष्य भी जान सकता है। खैर।

प्रत्येक पद के आगे एक-दो आदि अंकों को भी, भगवान् जानें, क्यों तकलीफ दीगई है। और पद्य में चमत्कार तो जो कुछ भी है, सहृदय विद्वान् जानते ही हैं। अस्तु।

अब ज़रा ग्रंथ के अंदर दृष्टिपात करिये, पांचवें पृष्ठ में उसके लेखकवर्य कहते हैं—

"अपने प्राणवल्लभ के सुप्रिय वचन सुन कर वह भामिनी (!) हर्षित हुई तथा अपने मानवजीवन को कृतपुण्य (!) मानती हुई अंतःपुर में पहुंची.........।"

लेखक नें पहिले वर्णन किया है कि उस रात को उस भामिनी (!) नें एक सुस्वप्न देखा और भारी (!) उत्साह से अपने पति के पास जाकर उसे कहा। पतिदेव नें उसका भविष्य में पुत्र-रत्न का जन्म-रूप फल बतलाया। उसके बाद का वह वर्णन है। एक आनंद-मग्ना स्त्री को भामिनी कहना सर्वथा अनुचित है। "कोपना सैव

भामिनी "—इस अमरकोष की उक्ति के अनुसार 'भामिनी' शब्द का अर्थ 'क्रुद्ध-स्त्री' होता है, जो कि यहां बिलकुल असंगत है।

आगे 'कृतपुण्य' शब्द का विचार करिये। कृतकृत्य की जगह शायद लेखनी की गलती से 'कृतपुण्य' टपक पड़ा होगा! खैर। आगे बढ़िये, पृष्ठ १७ में लेखकवर्य फरमाते हैं—

"उस बालक के प्रसङ्ग को विचार (जो कि हमारे पाठक पहिले पढ़चुके हैं) वाचक धर्मदेव गणि धुंधुका के उद्यान में पधार कर विश्राम लिया है—इस सुअवसर में एक राज सेवक नें आकर मंत्रीश्वर को वर्धापनिका (बधाई) दी कि हे मन्त्रीराज! नगर के बहार उद्यान में श्री वाचक धर्मदेवगणि का पदार्पण हुआ है, यह वचन सुनते ही मन्त्रीश्वर उसको कुछ बक्षीस कर अपने जन्म को धन्य मानते हुए परिवार सहित उद्यानमें पहुंचे वहांपर जाकर यथाविधि वंदनन मस्कार कर महोत्सव पूर्वक गुरुमहाराजको नगर प्रवेश कराकर उपाश्रय में पधराये—निष्कारण बंधु वाचकवर्य नें धर्मदेशना शुरू की:—........... "

पाठकवृन्द! इसकी समालोचना कर व्यर्थ में भूमिका का कलेवर बढ़ाना नहीं चाहता। आप-लोग खुद ही विचार करें। कर्ता और क्रिया में कितना सामंजस्य है, शब्दों की शुद्धता कितनी है, विरामों का कितना उचित प्रयोग है, और शैली कैसी है? क्या इस प्रकार का ग्रंथ साहित्य-क्षेत्र में स्थान पाने लायक है? अस्तु।

चलिए, आगे तशरीफ लाइए, यह तो एक देगची के एक-दो चांवलों की परीक्षा की, अब आगे बढ़िये।

एक और 'श्रीजिनदत्तसूरिचरितम्' है, जो कि सूरत से प्रकाशित हुआ है, और उसके लेखक कोई समाज के प्रतिष्ठित, अग्र-

गण्य एवं विद्वान् साधु हैं। नाम से तो मालुम होता है, संस्कृत का ग्रन्थ होगा, लेकिन है हिन्दी का, कहीं-कहीं संस्कृत को भी मिलाकर खिचड़ी बनाई गई है।

प्रस्तुत पुस्तक तो है श्रीजिनदत्तसूरिजी का चरित्र, लेकिन उसमें सब तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि, लोकस्वरूप, काल-स्वरूप आदि और भगवान् महावीर से लेकर उनके पट्टधर कोई साठ-सत्तर आचार्य आदि के अधिकार हैं। मालुम होता है, लेखक ने बहुत से विषयों पर सरपट दौड़ लगाई है। खैर।

किसी जगह संस्कृत में लिखते हैं, और संस्कृत लिखते-लिखते भूल से एक-दो वाक्य हिन्दी के भी लेखनी से टपक पड़ते हैं। उसका भी नमूना देखिए—

" अत्राह काश्चित् तपोटमताश्रितः खरतरगच्छपट्टावल्याः कल्पितम्, तत्रास्ति प्रतिविधानम् किंचित्संप्रदायागतं प्राचीनं सप्रमाणं सन्तीति ब्रूमहे......"

" अस्याः भावार्थो यथा—१ श्रीमहावीर स्वामी ७२ वर्षायुः, उस समय १-२ निन्हव हूवा, २ सुधर्मस्वामी शतायुः २० वर्षैः सिद्धः, ३ जंबूस्वामी ८० वर्षायुः ६४ वर्षैः सिद्धः........., ३९ श्रीवर्द्धमानसूरिः, संवत १०८० आबूजीमें विमलवसही प्रतिष्ठी, ४० श्रीजिनेश्वरसूरिः खरतर बिरूद उसवक्त कमलाहूवा,........"

प्रिय पाठकवृन्द ! देखिए, कैसी साहित्य की दुर्दशा है ! खैर। हिन्दी का भी नमूना देखिए—

" प्रश्नः—जैनधर्म कबसें प्रसिद्ध हूवा ? उत्तर—जैनधर्म अनादि कालसें प्रसिद्ध है, प्रश्नः—जैनलोक जगत्का स्वरूप किसतरे मानते हैं ? उत्तर—द्रव्यार्थिकनयकें मतसें जैनलोक जगत्का स्वरूप

शाश्वता, हमेशां प्रवाहसें ऐसाही मानते हैं, अनादिकालसें भरत ऐरवत क्षेत्रापेक्ष उत्कृष्ट हीनकालमुजब चढ़ाव उतार स्वरूप चला आता है, अपर खेत्रापेक्षसदृश चलता है·········"

ऐसे लेखकों के हाथ से हिन्दी को भगवान् ही बचाए। किस प्रकार हिन्दी की दुर्दशा की गई है!

एक 'हितशिक्षावली' नामक पुस्तिका मेरे देखने में आई। यह भी कोटा से ही मिलती है। उसकी भाषा का नमूना देखिए—

"मनुष्य मात्रका देह विनश्वर है, एश, आराम, हाट, हवेली, जमीन, जायदात, वाड़ी, गाड़ी, लाड़ी और कुटुंब वगेरा सबही नाशवन्त हैं; कालचक्र अपनेको निकंदन करनेके हेतु निरन्तर निकट आरहा है; इस विषमताको समझ कर धर्म की आचरणा करनी चाहिये"

एक किसी विद्वद्वर्य का लिखा हुआ 'सुख-चरित्र' है। उसका भी नमूना पाठकों के संमुख रखता हूं—

समर्पण-पत्रिका में संबोधन किया गया है—"हे अद्वैतविशातृः!" बड़ा दुःख होता है कि शब्दरूपावली को भी पढ़े बिना संस्कृत में हाथ डालने का साहस क्यों किया जाता है! आगे चलिए—

"आप श्रीनें अपने पवित्र·········वचनामृतोंद्वारा अनेक देह धरियोंका अनुपम उपकार कर उनके जीवनको सार्थक किये"

"हम सकल समाज आपके नित्य स्मरणीय परमोपकारको जीवन पर्यंत स्मृति पथ सें तनिक भी वियोगावस्था प्रतिपन्न नहीं कर सकते"

"अब मैं अपने·········निर्मल दर्शनधारी, मोक्षाभिलाषी, उत्कृष्टसंयमधारी, बड़भागी, सुभागी······गुरुवर्यका······जीवन-चरित्र लिख दिखनेका प्रयत्न करता हूं"

" श्रद्धा एक ऐसी पदार्थ है कि जिसमें मनुष्य अवश्य अपनी इष्टता को प्राप्त करता है "

" इस प्रकार बालजीवों पर उपकारक कृतकृत्य कर रहे हैं "

"ऐसे अनुमोदनीय संवद्ध में अवश्य ही साफल्यता हो सकती है "

देखिए, निम्नलिखित वाक्यों की कैसी दुर्दशा की गई है। इनका दौर्भाग्य था कि वे लेखकवर्य की दृष्टि में पड़ गये।

" कृतः कर्मक्षयोनास्ति । कल्पकोटी शतैरपि ।
अवश्यमेव भोगतव्यं । कृतः कर्म शुभाशुभम् ॥११॥ "

" यथा नामस्तथा गुणाः "

इन्हीं लेखकवर्य का एक कल्पसूत्र भी अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। उसकी भी यही गति है। और भी अनेक लेखकों के अनेक ग्रंथ इसी श्रेणी के हैं। विस्तार भय से हम यहां उदाहरण देने में असमर्थ हैं। यदि पाठकों को यह रुचिकर हुआ तो आगे इस विषय में स्वतंत्र रूप से लिखने का प्रयत्न करेंगें।

पाठकगण ! इतने से ही संतोप करिये। इस विषय पर बहुत-कुछ लिखा जा सकता है और लिखने की आवश्यकता भी है। लेकिन यहां पर इस विषय में अधिक लिख कर हम पाठकों का समय नष्ट करना नहीं चाहते।

आधुनिक साहित्य की इसी प्रकार बड़ी दुर्दशा हो रही है। इस उन्नतिशील बीसवीं शताब्दी में इस ओर कानों में तैल डाले पड़े रहना हमारे लिये और हमारे साहित्य के लिये बड़ा हानिकारक होगा। अपने समाज के विद्वानों से मैं अनुरोध-पूर्वक प्रार्थना करता हूं कि वे अपने आधुनिक साहित्य की ओर भी दृष्टिपात कर उनकी कटुतम आलोचना करने के लिये कलम उठावें। अस्तु।

प्रस्तुत पुस्तक, उसकी शैली एवं उसकी भाषा के बारे में मुझे कई बातों के स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। अतः तद्विषयक कुछ सूचनाएं पाठकों के संमुख रखता हूं।

प्रस्तुत पुस्तक में जो गोलछा-वंश का इतिहास लिखा गया है, वह सिर्फ श्रीजिनदत्तचरित्र से लिया गया है। उस में ऐतिहासिक तथ्य कितना है, यह मैं नहीं कह सकता। उस वंश के इतिहास की पुस्तक मेरी दृष्टि में अभी तक नहीं आई। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से उसमें कोई परिवर्तन की जरूरत हो तो कृपया तज्ज्ञ पाठक मुझे सूचित करेंगे, तो द्वितीय-संस्करण में उसे ठीक कर दिया जायगा।

पुस्तक लिखते समय वेदमूथा-गोत्र का इतिहास मुझे नहीं मिला था। अतः प्रथम प्रकरण में वह छोड़ दिया गया है। बाद में 'श्री रत्नप्रभाकरज्ञानपुष्पमाला, फलोधी' से प्रकाशित वेदमूथा-गोत्र का 'खुर्सीनामा' मुझे मिला। उसके आधार पर इस वंश के इतिहास का सारांश इस प्रकार है—

"वीर-निर्वाण संवत् ७० में अर्थात् विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व ओसिया में श्रीरत्नप्रभसूरि नें सूर्यवंशी महाराज उत्पलदेव और चंद्र-वंशी मंत्री ऊहड़ आदि लाखों क्षत्रियों की मंत्रों द्वारा शुद्धि कर उन्हें जैन-धर्म-रत बनाया और उस समूह का नाम 'महाजन-वंश' रखा। राजा उत्पलदेव के वंश में २८ वीं पीढ़ी के बाद किसी के श्रेष्ठ कार्य करने से उस वंश का श्रेष्ठि-गोत्र हुआ। उसी श्रेष्ठि-गोत्र में एक लाल-चंदजी नामक प्रसिद्ध व्यक्ति हुए। उनको विक्रम संवत् १२०१ में चित्तौड़ के महाराणाजी नें बारह गांवों के साथ वैद्य पदवी दी। उसमें 'महता' शब्द जोड़ कर तभी से वैद्य-महता गोत्र प्रसिद्ध हुआ। महता

शब्द 'महतो' से बना है। महतो का अर्थ है—चौधरी, प्रतिष्ठित। उसीका अपभ्रंश 'वेदमूथा' शब्द है।"

प्रस्तुत पुस्तक में टिप्पणी में जो तप आदि की परिभाषाएं दीगई हैं, वे परिपूर्ण नहीं हैं। वे तो सिर्फ परिचय देने के लिये दीगई हैं।

यद्यपि 'महाराज-साहब' शब्द पुलिंग में है, लेकिन समाज में यह स्त्री और पुरुष—उभय के लिये प्रयुक्त किया जाता है। इसलिए उस व्यावहारिक रूढ़ि के अनुसार पुस्तक में भी वह दोनों ही लिंगों में प्रयुक्त किया गया है।

श्रीमहाराज साहब यहां—महीदपुर में ही विराजमान हैं और पुस्तक भी यहीं लिखी गई है। इसलिए सन्निहित होने के कारण पुस्तक में स्थल-स्थल पर श्रीमहाराज साहब के लिये 'इन' सर्वनाम का प्रयोग और महीदपुर के लिये 'यहां' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इसमें जगह-जगह कुछ रूढ़ पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जैसे—सचित्त, अचित्त, प्रासुक, सुस्ता, तड़ आदि। इनके पर्यायवाची अन्य शब्द यदि ढूंढ कर रखे जाते तो उनमें इतना अर्थग्रहण-सौकर्य न रह सकता था। इसलिए प्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग ही ठीक समझा गया है।

पुस्तक में अनेक जगह चातुर्मास शब्द का प्रयोग किया है। चातुर्मास आषाढ़ सुदि चतुर्दशी से कार्तिक सुदि चतुर्दशी तक माना जाता है। लेकिन यहां उसके पहिले और बाद के मास-दो-मास के समय को भी चातुर्मास शब्द से लेलिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक की भाषा बोलचाल की रहे, इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। इसीलिए अत्यंत प्रचलित फारसी, अरबी और

अंग्रेजी के भी शब्दों का कई जगह प्रयोग हुआ है। उनमें बहुत शब्द तो ऐसे हैं, जिनके पर्यायवाची प्रायः हिन्दी में नहीं मिलते और जिन्हें जनता आज भली भांति जानती है। ऐसे शब्दों को, जो कि आज हिन्दी के ही होगये हैं, अपनाना हिन्दी की व्यापकता की दृष्टि से अत्यावश्यक है। जैसे—स्टैण्डर्ड, शेअर्स, कंपनी, पॉकेट, ऑफिस, एक्ट, ज़ुयरन आदि। पॉकेट, शब्द का पर्यायवाची यद्यपि जेब-शब्द है, लेकिन वह फारसी का है। तदर्थक 'खीस्या' शब्द तो एकदेशीय, ग्राम्य एवं अप्रचलित है।

कोई-कोई जगह भाषा ज़रा संस्कृतमय, अतएव कठिन होगई है। उसका कारण वहां का उस प्रकार का विषय ही है। वहां वैसी ही भाषा उपयुक्त है।

पुस्तक में हर एक बात तर्कान्वित-आलोचना-पूर्वक लिखी गई है। शास्त्रों के प्रमाण प्रायः नहीं दिये गये हैं। इसलिए यह पुस्तक प्रत्येक पाठक के हृदय पर अधिक प्रभाव डालेगी। जगह-जगह सामाजिक एवं सांप्रदायिक विषय की भी काफी तौर पर छानबीन की गई है। इस दृष्टि से जैनेतर पाठकों को भी यह उतनी ही उपयोगी हो सकेगी।

इसमें कई जगह कुछ क्रांतिकारी विचार भी रखे गये हैं। उनसे पाठक चौंकें नहीं। वहां पर दिये गये तर्कों पर ज़रा गहरा विचार कर फिर वे अपनी संमति निश्चित करें, ऐसी मेरी प्रार्थना है। जो बात सत्य-रूप है, उस पर व्यर्थ परदा डालने से क्या लाभ होता है! उलटे उससे तो दोषों की ही वृद्धि होती है। जो वास्तव में दोष हैं, उनकी खुली आलोचना का होना तो सामाजिक हित की दृष्टि से आवश्यक है।

पुस्तक में अनेक विषय बहुत तुले हुए शब्दों में लिखे गये हैं, अतः उनमे अधिक संक्षेप आगया है और फलतः कोई-कोई जगह बराबर स्पष्टीकरण न हो पाया है। इसका कारण एक तो विस्तार-भय था। दूसरे, उनमें अप्रकृतता की भीति थी। तीसरे, जान-बूझ कर कई विषय गंभीर ही रखे गये हैं। विज्ञ पाठक ज़रा गंभीरता से विचार करेंगे तो सब स्पष्ट होजावेंगे। उस प्रकार के विचार यदि खुले शब्दों में रखे जाते तो साधारण मनुष्यों की ओर से अर्थ के अनर्थ होने की संभावना थी।

अस्पृश्यता का विषय ज़रा विस्तृत होगया है, लेकिन उसका वैसा होना जरूरी समझा है, क्योंकि यह प्रश्न सामयिक है, और इस पर जैन-सिद्धांतों का झुकाव किस ओर है, जैन-शास्त्र इस विषय में क्या कहते हैं, तथा जैनागमसंमत ऐतिहासिक दृष्टि क्या बतलाती है, इन बातों का ज्ञान होना भी आज पाठकों के लिये अतीव उपयोगी है।

सातवें प्रकरण में तीर्थों के संबंध में जो उद्धरण दिये गये हैं, उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता के लिये उन-उन पुस्तकों के लेखक ज़िम्मेवार हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में बहुत जल्दी कीगई है। चूंकि श्रीमहाराज साहब अत्यंत वृद्ध और रुग्ण हैं, तथा इनके भक्तों की और मेरी भी यही इच्छा हुई कि यह जीवन-चरित्र इनके सामने ही छपकर तैयार होजाए तो बहुत अच्छा। इसलिए प्रूफ-करेक्शन एक ही वक्त किया गया। दूसरी वक्त यदि प्रूफ मंगवाये जाते तो हर एक प्रूफ में चार दिन अधिक लगते। इस प्रकार संपूर्ण पुस्तक के तैयार होने में दो महिने ज्यादा लग जाते। उसमें कुछ तो मेरे दृष्टि-दोष से और कुछ मेरे करेक्षन के अनुसार ठीक शुद्ध न होने

के कारण प्रेसवालों के दृष्टिदोष से अशुद्धियें रह गई। अतः सहृदय पाठक-गण क्षमा करें। यदि सौभाग्य से हिन्दी-जनता नें इसका समुचित आदर किया और यह संस्करण समाप्त होगया तो अगले संस्करण में वे त्रुटियें न रहने पावेंगी। इसके अलावा यदि और कोई त्रुटि रह गई हो तो पाठकगण कृपया सूचित करें। वे भी अगले संस्करण में ठीक कर दी जावेंगी।

अंत में जिन-जिन सज्जनों नें इस कार्य में मुझे सहयोग दिया है, और जिन-जिन लेखकों की पुस्तकों से मुझे इसमें सहायता मिली है, उन सबों का आभार मानता हुआ, तथा एक बार फिर अपने सहृदय पाठकों से अपनी त्रुटियों के लिये क्षमा-प्रार्थना करता हुआ विरत होता हूं। यदि जनता नें इसका समुचित आदर किया तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

विद्या-मंदिर
महीदपुर (मालवा)
२१-८-३९

विनीत
राजेन्द्रलाल डोशी
"चन्द्र"

आदर्श-साध्वी रत्नश्री

पूर्व-खण्ड

श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब

आदर्श-साध्वी रत्नश्री

वंश-विवरण

भारतवर्ष में मारवाड़ नामक प्रदेश बड़ा विख्यात है। पानी की न्यूनता के कारण तो वह बालबचों तक को विदित है और इसी कारण उधर की यात्राएं बड़ी कष्टप्रद रही हैं। बुद्धि, बल और ज्ञान की दृष्टि से भी उसकी प्रसिद्धि कम नहीं है। बुद्धि के कारण तो आज भी वहां के जाटों के किस्से बहुत से आदमियों की ज़बान पर हैं। भारत में वहां का वैश्य-समाज जितना बुद्धिमान् एवं व्यापार-चतुर समझा जाता है, वैसा दूसरा नहीं। मारवाड़ की यह वैश्य-जाति सारे भारतवर्ष में प्रसृत है और धड़ाके से व्यापार कर रही है। बल की दृष्टि-कसौटी पर भी उसको परखा जाय तो प्राचीन और आधुनिक—दोनों ही युगों में वह पूरा सौ टच उतरता है। महाराज जसवंतसिंह और राठौर वीर दुर्गादास सरीखे महावीर मारवाड़ की ही अनुपम संपत्ति रही है। आजकल भी वीरता में यह प्रदेश वैसा ही ख्यात है। उसका परिचय विगत जर्मन-

महायुद्ध में जगत् को मिलचुका है। जयपुर, जो कि मारवाड़ में ही है, बड़ाभारी संस्कृत विद्या का केन्द्र है। जेसलमेर के प्राचीन ज्ञानभाण्डार—पुस्तकालय विश्व-विख्यात हैं, जिनमें कि अपरिमित प्राचीन साहित्य, जो कि भारतवर्ष का गौरवभूत है और हमारी प्राचीन संस्कृति की रक्षा कर रहा है, आज तक सुरक्षित है। इस के सिवाय स्वदेश-भक्ति एवं धर्म-प्रेम वगैरह सद्गुणों से भी वह परिपूरित रहा है।

इस प्रदेश में फलोधी (पोंकन) नाम का बड़ा रमणीय नगर है। वहां के अधिपति जोधपुर नरेश हैं। फलोधी शब्द फलवृद्धि का अपभ्रंश है। अभी भी बहुत मनुष्य उसे फलवृद्धि कहते हैं। इस नगर में जैन लोगों की संख्या बहुत ज्यादह तादाद में है। नानाप्रकार के गोत्रों के मनुष्य वहां सानन्द रहते हैं और व्यापार वगैरह कार्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सुचारु रूपसे करते हैं। उनमें एक गोलछा गोत्र भी है। इस गोत्र के मनुष्य भी वहां बहुत समय से सुख-पूर्वक निवास करते आये हैं। यही गोत्र हमारी प्रकृत चरित्र-नायिका का है।

इस गोत्र के मनुष्य विशुद्ध क्षत्रिय वंश के हैं। अनेक गोत्रों की तरह इस गोत्र की भी उत्पत्ति दादासाहब जिनदत्त-सूरिजी के हाथ से विक्रम संवत् ११६९ के बाद विशुद्ध क्षत्रियों से हुई। दादासाहब के प्रामाणिक जीवनचरित्र के आधार पर उनकी आचार्य-पद की स्थापना विक्रम सं. ११६९

में हुई थी। उसके बाद का यह जिक्र है। तात्पर्य यह कि गोलछा-वंश की उत्पत्ति बारहवीं शताब्दी में हुई।

भारतवर्ष के पूर्वीय प्रदेश में चन्देरी नामक एक विशाल नगरी थी। उसमें खरहत्थ नाम का राजा राज्य करता था। वह दादासाहब का परम भक्त था। उसके चार पुत्र थे—अंबदेव, निंबदेव, भैंसाशाह और आशपाल। एक समय किसी यवन-सेना से इनकी मुठभेड़ हुई; उसमें विजयलक्ष्मी ने वरमाला तो इन्हींको पहनाई, लेकिन ये चारों भयंकर रूप से घायल होगये। ऐसी विषम अवस्था में दैवयोग से दादासाहब उस नगरी में पधारे। यह शुभ समाचार सुनते ही राजा खरहत्थ तुरन्त गुरुदेव के पास दौड़े आये और उनके पादपद्मों में सविधि वन्दना करके सब हाल उनको कह सुनाया। तब करुणासागर और जैनधर्म के उद्भट प्रचारक श्रीदादासाहब ने चारों पुत्रों को अपने पास बुलवाया और एक आज्ञाकारिणी देवी के द्वारा उन सबों को नीरोग करके जैनधर्मरत बनाया। उनमें तीसरे भैंसाशाह के पांच पुत्र हुए। उनमें दो पुत्र 'गेलोजी' और 'बच्छराज' नाम के थे। उन्हींसे यह गोलेच्छा गोत्र उत्पन्न हुआ। गोलेच्छा शब्द उन दोनों

---

१ देखिये, रा. डालसिंहजी गौड़वंशी कृत—"श्रीजिनदत्तसूरिचरित्र"।

२ देखिये, रा. डालसिंहजी गौड़वंशी कृत—"श्रीजिनदत्तसूरिचरित्र"।

पुत्रों के नामों में से 'गेलो' और 'च्छ' अक्षर लेकर बने हुए 'गेलोच्छ' शब्द का अपभ्रंश मालुम होता है।

इस गोलच्छा वंश में चांदमलजी नामक एक अच्छे धर्मात्मा श्रावक हुए। उनके पांच पुत्र थे—मूलचंदजी, बागमलजी, ऋषभदासजी, लक्ष्मीचंदजी और कुन्दनमलजी। इनमें सब से बड़े मूलचंदजी हमारी चरित्र-नायिका के पिता हैं। मूलचंदजी के छह संतानें हुईं, जिनमें दो पुत्र और चार पुत्रियें थीं। छगनमलजी सब से बड़े थे और मिश्रीलालजी उल्लासबाई से छोटे और मघीबाई से बड़े थे। सब से छोटी बहन का नाम मघीबाई था। बाकी तीन—केसरबाई, रतनबाई, और उल्लासबाई छगनमलजी से छोटी और मिश्रीलालजी से बड़ी थीं। इन तीनों का ज्येष्ठ-कनिष्ठभाव नामक्रम के अनुसार ही था। इनमें रतनबाई ही हमारी प्रकृत चरित्र-नायिका है।

इनकी माता का नाम सुगन्धबाई था। ये 'वेदमूथा' नामक गोत्र में उत्पन्न हुई थीं। प्रायः समग्र ओसवाल जाति विशुद्ध क्षत्रिय वंश से ही उत्पन्न हुई है, इस सिद्धान्त के

---

१ रा. शेरसिंहजी गौड़वंशी का 'जैन-क्षत्रिय-इतिहास' देखिये। दादासाहब के चरित्र में पृष्ठ ८१ पर टिप्पनी में आप लिखते हैं—"आज कल के ओसवाल विद्या के अभाव से अपने को वैश्य मानते हैं, मगर यह उनकी भूल है, कारण कि ये सब विशुद्ध राजपूत हैं—जानना हो तो देखिये हमारा बनाया हुआ "जैन-क्षत्रिय-इतिहास"।

—लेखक।

अनुसार वेदमूथा गोत्र भी विशुद्ध क्षत्रिय वंश से ही उत्पन्न मानना चाहिये। इस वंश का इतिहास हमारे देखने में न आया। इस प्रकार के इतिहास की जैनों में बड़ी कमी है। इसलिये इस गोत्र की उत्पत्ति के काल का भी हम निर्णय नहीं कर सकते हैं। अस्तु।

इस वेदमूथा वंश में केवलचंदजी नामक अच्छे श्रावक होगये हैं। ये ही सुगन्धबाई के पिता थे। सुगन्धबाई भी अपने पिता के सदृश बड़ी धर्मात्मा थीं। नियमानुसार प्रतिक्रमण, नवकारसी, देवगुरुदर्शन वगैरह धर्मकृत्य नित्य किया करती थीं। इनके सिवाय और भी व्रत, नियम, तपस्या, तप वगैरह मौके-मौके पर अवश्य किया करती थीं। इनकी दीक्षा-ग्रहण की भावना कई दिनों से थी; लेकिन सांसारिक झंझटों में फंसे रहने के कारण ये अपनी भावना को सफल न कर सकीं। हमारी चरित्रनायिका के दीक्षा लेने के बाद भी इन्होंने दीक्षा के लिये उत्कट भावना प्रकट की थी; लेकिन अपने छोटे पुत्र मिश्रीलालजी की इस धमकी से कि यदि ये दीक्षा लेने के लिये उद्यत होंगी, तो वे कूए वगैरह में गिरकर आत्मघात कर लेंगे, भयभीत होकर ये दीक्षा से विरत होगई। सुगन्धबाई में धार्मिकता के अलावा विनय, कर्तव्यपरायणता, निरभिमानिता और नैतिकता आदि अनेक उत्कृष्टतम सद्गुण विद्यमान थे।

हमारी चरित्रनायिका के पिता मूलचंदजी बड़े धार्मिक थे। मौके पर हर वक्त व्रत-प्रत्याख्यान करने से कभी न

चूकते थे। प्रतिक्रमण, देव-गुरु-दर्शन वगैरह करने का इनको दृढ़ नियम था। मूलचंदजी बड़े बन्धुस्नेही, बन्धुपरिपालक और सच्चरित्र मनुष्य थे। ये कपड़े का व्यवसाय करते थे। बड़े होने के कारण गृहकार्यों का और कुटुंब के भरणपोषण वगैरह का भार अधिकतर इन्हीं पर था। इतने कार्यों में व्यग्र रहने पर भी धार्मिक नियमों में ये कभी भी शिथिलता न लाते थे।

हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई को अधिकतर सद्गुण सुगन्धबाई की तरफ से ही मिले हैं। यह बहुत जगह देखने में आता है कि बच्चे माता के स्वभाव का ही अनुसरण करते हैं। इसका कारण उन्होंका अतिशय रूप से सामीप्य ही है। जैसे पिघला हुआ स्वर्ण संसृष्ट वस्तु के ही आकार को धारण करता है, या जैसे निर्मल प्रकाशयुक्त आदर्श पास में रखी हुई वस्तु के ही प्रतिबिंब को ग्रहण करता है; वैसे ही जात-मात्र बालक—शिशु की निराकार बुद्धि अत्यंत रूप से सन्निहित के ही गुण-दोषों को ग्रहण किया करती है। इसी कारण से बच्चों की बनावट, उन्होंके शारीरिक, आत्मिक एवं बौद्धिक विकास और चरित्रनिर्माण का अधिकतर उत्तरदायित्व माता पर ही निर्भर रहता है। इस दृष्टिकोण से समाज के निर्माण में मातृत्व का ही स्थान सर्वोपरि है। इसीलिये—योग्य मातृत्व के संपादन के लिये शिक्षा की अत्यंत आवश्यकता है। इसीलिये स्त्रीशिक्षा भी उतनी ही उपयोगिनी है, जितनी कि पुरुषशिक्षा। जो लोग नैतिकता, धर्मपरायणता एवं कर्तव्य-

परायणता से कोसों दूर हैं, उन्हें तो कुछ नहीं कहना; लेकिन जो लोग इन सद्गुणों का रत्तीभर भी पालन करते हैं और इन्होंका पालन करना अपना आवश्यक कर्तव्य—धर्म समझते हैं, उन्हें सोचना चाहिये कि एक मूर्ख स्त्री शिक्षा के बिना समाजनिर्माण में अपने मातृत्व के महान् कर्तव्य का उत्तरदायित्व कैसे निबाह सकती है?

रतनबाई में बचपन में जो वैराग्य की भावना उदित हुई थी, वह भी इन्हें अपनी माता से ही प्राप्त हुई-सी जान पड़ती है। मालूम होता है अपनी माता की इच्छा और कार्य को रतनबाई—हमारी चरित्रनायिका ने पूरा कर दिखाया है। माता सुगन्धबाई की वैराग्य भावना को हम ऊपर बतला चुके हैं। इसके अलावा इस वंश में पहिले से ही अनेक स्त्रियों में वैराग्य की भावनाएं उदित हो चुकी थीं, और उसके फलस्वरूप उन्होंने आजीवन शुद्ध-चारित्र का उत्कृष्ट रूप से पालन किया था।

हम ऊपर लिख आये हैं कि हमारी चरित्रनायिका के पिता मूलचंदजी पांच भाई थे, जिनमें कुन्दनमलजी सबसे छोटे थे। उनका युवाकाल में ही देहान्त हो चुका था। उनकी पत्नी ने हमारी चरित्रनायिका के पहिले ही दीक्षा अंगीकार की थी। उनका नाम विवेकश्रीजी था। आगे चलकर रतनबाई इन्हीं की शिष्या हुई। बाद में मूलचंदजी के छोटे भाई बागमलजी की बालविधवा पुत्री ने भी चारित्र-स्वीकार

किया था। उन्होंका नाम धनश्रीजी था। इस प्रकार इस वंश में रतनबाई के समक्ष इनकी दीक्षा के पहिले और बाद में बहुत-सी औरतों ने दीक्षा ली थी। ऐसी वैराग्यमय परिस्थिति के अन्दर हमारी चरित्रनायिका का जन्म हुआ। इस परिस्थिति का रतनबाई पर कैसा असर हुआ—यह हमें आगे चलकर मालुम होगा।

जन्म और बाल्यकाल

विक्रम संवत् १९३३ चल रहा था। शरद् ऋतु अपनी छटा बिखेर रही थी। कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी की अर्धरात्रि का समय था। प्रकृति पूर्णतया नीरव एवं निस्तब्ध थी। वायु शान्ति से बह रही थी। गुलाबी ठंड का पूर्ण साम्राज्य था। ऐसे शान्तिमय मधुर काल में फलोधी नगर में माता सुगन्धबाई ने पुत्रीरत्न को जन्म दिया। सारे घर में आनंद मंगल छागया। जात-मात्र पुत्री के तेज और प्रभाव को देखकर बान्धव-जन उसकी भावी परम उन्नति का अनुमान करने लगे। दसवें दिन कौटुंबिक जनों ने उसका नाम रतनबाई रखा।

क्रम से प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान रतनबाई धीरे-धीरे बढ़ने लगीं। तीन साल की उमर में इनको बड़ी माता—चेचक निकली, जिसके कारण ये कुछ दिनों तक सख्त बीमार रहीं। एक दिन तो ये बहुत ही ज्यादह बीमार होगईं। नाड़ी तथा श्वास की गति एवं हृदय की धड़कन भी रुक गई। इससे ये श्मशान की तरफ लेजाई गईं। माता-पिता वगैरह सब बान्धव-

जन रोने लगे। मार्ग में शीतवायु के संस्पर्श से इनके शरीर में कुछ चेतना का संचार हुआ। कुछ देर में इनका शरीर कुछ हिला और श्वास-प्रश्वास चलने से प्रतीत होने लगे। बाद में तो नाड़ी एवं हृदय की क्रिया भी चलने लगी। तब इन्हें जीवित जान कर फिर वापिस घर लाया गया। सब लोगों के आनंद का पार न रहा। धीरे-धीरे इनकी तबियत सुधरती रही। क्रम से कुछ दिनो में ये पूर्ण स्वस्थ होगईं।

जब रतनबाई सात वर्ष की हुई, तब इनको गृहकार्य— पाककला वगैरह की शिक्षा दी जाने लगी। थोड़े ही दिनों में ये उनमें अच्छी निष्णात होगई।

उस समय मारवाड़ी समाज में शिक्षा का जोर बिलकुल नहीं था, बल्कि यों कहना चाहिये कि शिक्षा नाहीं-सी थी। बच्चे कुछ हिसाब करने लगे, अड़ियल टट्टू-सी गति से पुस्तक बांचने लगे और 'हंग, मर, जर' लिखना आगया कि बस शिक्षाविधि समाप्त हुई। बस उस वक्त की शिक्षा का स्टैण्डर्ड इतना ही था। आजकल भी तो बहुत ज्यादह अंशों में मारवाड़ी व जैनसमाज में यही स्टैण्डर्ड कायम है। शिक्षा का एवं ज्ञान का महत्त्व उनकी दृष्टि में तृणमात्र भी नहीं है।

आज कल जैन-समाज में ज्ञानपंचमी के दिन बहुत से मनुष्य और औरतें ज्ञान की—किताबों की पूजा करते हैं, और तभी से ज्ञान की आराधना करना शुरु करते हैं। इस प्रकार सरस्वती की उपासना भक्ति एवं आराधना करके वे लोग अपने

को कृतकृत्य समझते हैं। लेकिन सोचने की बात है, जब कि मनुष्य परिश्रम से अध्ययन द्वारा ज्ञान संपादन कर साक्षाद्रूप से माता सरस्वती को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर सकते हैं और साक्षाद्रूप से उसकी सेवा, उपासना, भक्ति एवं आराधना कर सकते हैं, फिर समझ में नहीं आता कि परोक्ष रूप से जड़ की पूजा द्वारा सरस्वती की उपासना एवं आराधना करने में क्या विशेष प्रयोजन है! मैं पूछता हूं कि हम अपने महाराजा साहब को साक्षात् यदि भेंट दे सकते हैं और उनकी कृपा संपादन कर सकते हैं तो परंपरा से परोक्ष रूप में उनकी जड़ मूर्ति की पूजा द्वारा उनकी कृपा संपादन करना घोर अज्ञान नहीं है? अध्ययन द्वारा निर्मल ज्ञान संपादन कर सरस्वती की उपासना एवं आराधना करने के सिवाय और दूसरा कौनसा उत्तम मार्ग उसकी साक्षात् उपासना एवं आराधना के लिये हो सकता है?

पाठकगण! इससे मेरे मूर्तिपूजा के विरोध एवं ज्ञान-पंचमी के आराधन की निष्फलता का सिद्धान्त न निकालें। यहां तो सिर्फ सोचना इतना ही है कि शिक्षा से हम नाक-भौंह सिकोड़ें, ज्ञान संपादन से मुंह मोड़ें और अध्ययन से घृणा करें, इतना ही क्या, ज्ञान संपादन करने वाले और अध्ययन करने वाले का हम मजाक उड़ाएं और ज्ञान-पंचमी की व्रत द्वारा आराधना करें—इसमें कितना वैषम्य है! यह घोर अज्ञान नहीं तो क्या है! यह ज्ञान की मजाक नहीं तो

क्या है ? मैं आप ही से पूछता हूं कि किसी की भी कृपा संपादन के लिये साक्षात् मार्ग के रहते हुए परोक्ष और परंपरा-विष्ट मार्ग का अवलंबन करना घोर मूर्खता नहीं है ? भगवान् महावीर के वर्तमान काल में उनकी साक्षात् भक्ति करने के मार्ग के रहते हुए उनकी प्रस्तर-प्रतिमा की पूजा करना और उनकी साक्षात् उपासना करने वालों पर उपहास की बौछार डालना क्या बुद्धिमत्ता है ?

जब पुरुष-शिक्षा की यह हालत है तो स्त्री-शिक्षा के विषय में तो कहने की आवश्यकता ही नहीं। हमारे समाज के व्यक्ति स्त्री-शिक्षा को तो राक्षसी समझ कर उससे कोसों दूर भागते हैं। वे समझते हैं, स्त्री-शिक्षा की क्या आवश्यकता है; स्त्री-शिक्षा हमें विनाश के पथ पर लेजावेगी। कहावतें भी प्रसिद्ध हैं, "एक घर में दो कलम नहीं चलना चाहिये।" पुरुष-शिक्षा के विषय में भी लोग कहते हैं, हम अपना काम करना सीखलें, बस, हमें और अधिक शिक्षा से क्या प्रयोजन इत्यादि। पाठकगण ! इन बातों पर जरा गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

जगत् मे हमें दो प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। कुछ मनुष्य अपने कार्यों को सुचारुतया एवं अविशृङ्खलित रूप से करते हैं, और कुछ मनुष्य कार्य को बड़े कष्ट से किसी प्रकार पूरा कर पाते हैं। इस प्रतिपद होने वाली विचित्रता—द्वैविध्य का क्या कारण है ?

स्कूल की एक क्लास के दो लड़कों का उदाहरण लीजिये; एक लड़का थोड़े परिश्रम से ही प्रथमश्रेणी में उत्तीर्ण होता है, और दूसरा घोर परिश्रम करके भी किसी प्रकार उत्तीर्णता मात्र के अंक प्राप्त करने में सफल होता है। इसका क्या कारण है?

और देखिये, एक छोटी–से–छोटी झाड़ू लगाने की क्रिया का उदाहरण लीजिये; एक नौकरानी फूहड़ता से झटपट कचरा निकाल लेती है और घर की चीजों को अस्त-व्यस्त कर डालती है। कचरा भी ऊपर दूसरी मंजिल से ही गली में फेंक देती है, जिससे कभी दैवयोग से वह किसी के सिरपर गिर पड़ता है, और उससे गली गंदी होती है। वह यह नहीं देखती कि नीचे से कोई भलामानस जारहा है, और न वह इस बात का ही खयाल करती है कि मकान की सफाई का मतलब यह कहां से निकल आया कि सब के साझे की वस्तु, गली, गन्दी करदी जाय। फलतः उसका नैतिक अधःपतन होता है। दूसरी नौकरानी कलात्मक ढंग से दीवारें, टेबिल, कुर्सी वगैरह

---

[1] यहांपर कलात्मक शब्द से पाठक चौंके नहीं। प्रायः प्रत्येक क्रिया में कम-ज्यादह रूप में कला का अंश जरूर रहा करता है। तभी तो उनमें सौंदर्य का अनुभव हुआ करता है। जापान में तो नौकरानियों को कलात्मक ढंग से झाड़ू लगाने से लेकर भोजन बनाने और बाजार से सामान लाने तक की शिक्षा देने के लिये यहां स्कूल खोला गया है। इसका वर्णन श्रीयुत धर्मवीर एम्. ए. ने मार्च १९३५ की सरस्वती में "नौकरानियों का स्कूल" शीर्षक लेख में किया था।

झटक-कर सुघड़रूप से कचरा निकालती है। घर की अस्त-व्यस्त वस्तुओं को अपने-अपने योग्य स्थान पर जमा देती है, जिससे मालिक को किसी भी चीज को ढूंढ निकालने में व्यर्थ हैरान न होना पड़े और व्यर्थ समय नष्ट न करना पड़े। कचरा भी नीचे कचरा पेटी में डालती है, जिससे किसी के सिर पर गिरने की संभावना से एवं गली को गंदी करने से वह बच जाती है, और फलतः नैतिकता का भी पूर्णतया पालन कर लेती है।

पाठकगण! विचार करिये, जरा गंभीरता से सोचिये। इस प्रकार कलात्मक ढंग से कार्य के करने और न करने में क्या कारण है? एक कलात्मक ढंग से कार्य करती है, दूसरी को उसकी कल्पना भी नहीं है। एक में सुघड़ता है, दूसरी फूहड़ है और उसका उसको ज्ञान भी नहीं है, इस वैषम्य का क्या कारण है?

सोचने से इन सब प्रश्नों का एकही उत्तर मालुम होता है, वह है बौद्धिक विकास और उसका अभाव। जिसमें बौद्धिक विकास जितना अधिक होगा, वह उतना ही अधिक अच्छी तरह से और सहज रूप से कार्य कर सकेगा। किसी भी मनुष्य या औरत को लीजिये, वह चाहे जो कार्य करता हो—चाहे व्यापार करता हो, चाहे सेवा कार्य करता हो, चाहे शासन करता हो; हर एक को उसके कार्य के अनुसार बौद्धिक विकास की अवश्य आवश्यकता होगी। विचार करने पर बौद्धिक विकास

का एकमात्र प्रधान कारण योग्य शिक्षा ही मालुम होती है। इसी प्रकार हर एक कार्य के लिये—चाहे वह छोटा से छोटा हो, या बड़ा से बड़ा हो—बौद्धिक विकास के संपादन द्वारा शिक्षा अवश्य ही कारणीभूत होती है। इसलिए शिक्षा की सर्वव्यापक एवं आत्यंतिक आवश्यकता के रहने पर भी उससे मुंह मोड़ने का और उससे घृणा करने का अंध-परंपरा के सिवाय और क्या कारण हो सकता है? अस्तु।

हम ऊपर कह आये हैं कि हमारी चरित्रनायिका को प्रचलित प्रथा के अनुसार केवल गृहकार्य की शिक्षा दी जाने लगी थी, और उसमें वे शीघ्र ही निष्णात होगई थीं। इसके अलावा अक्षर-ज्ञान तक भी इन्हें नहीं दिया गया था। अक्षर ज्ञान की शिक्षा तो वैराग्य-भावना की उत्पत्ति के बाद खुद के ही यत्न से हुई, यह हम अगले प्रकरण में देखेंगे।

अंग्रेजी में एक कहावत है—

" Coming events cast their shadows before."

यानें भावी घटनाएं अपनी प्रतिच्छाया पहले दिखा देती हैं। हिन्दी में भी कहावत प्रसिद्ध है—

" होनहार बिरवान के होत चीकने पात "

मतलब यह कि जिस मनुष्य का जीवन भविष्य में जैसा बनने वाला होगा, बाल्यकाल से ही उसकी चित्तवृत्ति का झुकाव उस मार्ग की ओर ही अग्रसर होता हुआ दिखाई देता है। मान लीजिये, कोई मनुष्य गणित का स्पेशलिस्ट

होनेवाला हो, तो उसकी चित्तवृत्ति बचपन से ही उस ओर झुकती है[1]। सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर हर एक महान् आत्मा के जीवन में यही बात दृष्टिगोचर होती है। छत्रपति शिवाजी अपने जीवन में स्वतंत्र हिन्दू-राज्य की संस्थापना करने वाले हुए। उनके बचपन के समय के जीवन पर दृष्टि डालिये, उस वक्त उनका सारा मस्तिष्क स्वतंत्रता के क्रांतिकारी विचारों से ही परिपूर्ण रहा करता था। हां, इस प्रकार की प्रवृत्ति को दबा देना या प्रोत्साहन देना, इसका उत्तरदायित्व उसके संरक्षक पर रहता है।

हमारी चरित्रनायिका रतनबाई का चित्त भी सात-आठ वर्ष की उम्र से ही विरक्ति की ओर झुकता हुआ-सा मालूम होता था। इनकी बाल्यक्रीड़ा भी इसी भावना के अनुरूप हुआ करती थी। यद्यपि विरक्ति की भावना का इन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं था, और न ये वैराग्य और दीक्षा को ही कुछ समझती थीं। इनकी इस दिशा में प्रवृत्ति सिर्फ नैसर्गिक ही थी। बचपन में ये पास-पड़ौस की आठ-दस लड़कियों को एकत्रित कर लेती थीं। ये स्वयं सफेद कपड़े पहन कर रजोहरण, जो कि हर एक श्रावक या श्राविका के पास रहा करता है, हाथ में ले लेती थीं। तपेली, कटौरी वगैरह के पात्रे[2] बना कर कपड़े से ढंक कर

---

१ इसका उदाहरण तंजौर (दक्षिण) रियासत के निवासी प्रख्यात गणितज्ञ श्रीनिवास रामानुजन् का है।

२ 'पात्रा' शब्द लकड़ी के पात्र का वाचक जैन समाज में रूढ है।

रख लेतीं, उपस्थित लड़कियों में से दो चार लड़कियों को अपनी शिष्याएं बना कर अपने घर में आहार-पानी लेने के लिये जातीं, वहां से चांवलों का पानी, गरम जल और प्रासुक—शुद्ध आहार लेतीं और घर में ही एक-तरफ जाकर खालेती थीं। कभी ऊंचे आसन पर बैठ कर और नीचे सामने पांच-दस लड़कियों को बिठा कर व्याख्यान—उपदेश दिया करती थीं। इस प्रकार की बाल्यक्रीड़ाओं से हमारी चरित्रनायिका के भविष्य-जीवन के निर्माण का अंदाजा अच्छी तरह से लग जाता है। यही प्रवृत्ति विकसित होकर आज के रूप में वर्तमान है।

प्रचलित परंपरा के अनुसार धार्मिक प्रवृत्ति का भी अंश इनमें मालुम होता है। उस वक्त हरी शाक और जमींकंद का भी इनको कुछ नियम था। रात्रि-भोजन का भी इनको त्याग था। इस प्रकार की त्याग की प्रवृत्ति उस वक्त से ही इनमें वर्तमान थी।

हमारी चरित्रनायिका की सगाई—वाग्दानसंबंध का भी प्रकरण बड़ा विचित्र है। इनकी सगाई फलोधी में ही शेरसिंहजी जावक के पुत्र नथमलजी के साथ में निश्चित हुई थी। शेरसिंहजी फलोधी में बड़े प्रतिष्ठित एवं संपत्तिवान् समझे जाते थे। जब हमारी चरित्रनायिका गर्भ में थीं, और नथमलजी भी गर्भ में थे; तब एक दिन सुगंधबाई और नथमलजी की माता दोनों मिलीं। इधर-उधर की चर्चाएं होने के बाद अपने-अपने कुल की और गर्भ की चर्चा चलने पर दोनों ने निश्चय कर

परस्पर वचन दिया कि दोनों में से किसी भी एक के लड़का और दूसरी के लड़की होगी तो वे दोनों का विवाह अवश्य कर देंगी। यदि दैवयोग से दोनों को लड़का हुआ तो दोनों ही स्वेच्छानुसार चाहे जहां उनकी शादी करने को स्वतंत्र होंगी। इस प्रकार इनकी सगाई—वाग्दानसंबंध गर्भ में ही होगया था। पैदा होने पर दोनों में करीब बीस दिन का अंतर था। नथमलजी हमारी चरित्रनायिका से उम्र में सिर्फ बीस दिन बड़े थे।

पाठकगण आश्चर्य करेंगे कि गर्भ में ही कैसे इनका वाग्दान होगया! लेकिन यह सत्य है। आज भी छोटे-छोटे गांवों में और कुछ अंशों में मारवाड़ी समाज में यह प्रथा प्रचलित है। शारदा एक्ट के लागू हो जानेपर भी बाल-विवाह की संख्या आज कम नहीं है। लेकिन यह प्रथा बड़ी घातक है। तैरना न जानने वाले बच्चे को अथाह सागर में फेंक देने से जो दशा उसकी होती है, वही बाल-विवाह वालों की होती है।

अपने यहां शास्त्रों में सौ वर्ष की आयु को चार समभागों में विभक्त कर चार आश्रम की व्यवस्था की गई है। उसमें पचीस वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर शास्त्रों के अध्ययन करने की मर्यादा है। स्त्री के लिये सोलह वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये। स्त्री और पुरुष में इस प्रकार नव वर्ष का अन्तर रहता था। आयुर्वेद की और विज्ञान की दृष्टि से भी यही सिद्धान्त ठीक है। इस ही आयु में रज-वीर्य परिपक्व

होता है। तभी विवाह होना शारीरिक एवं बौद्धिक विकास की दृष्टि से ठीक है। बाल-विवाह एवं अनमेल-विवाह शारीरिक एवं बौद्धिक विकास के घातक हैं।

दूसरे दृष्टि-कोण से विचार करिये। विवाह का मुख्य उद्देश्य योग्य संतति की उत्पत्ति के द्वारा वंशरक्षा आदि है। जब तक स्त्रीपुरुष अपने मातृत्व और पितृत्व के महान् कर्तव्य की ज़िम्मेवारी अच्छी तरह समझ न लें और उसका पूर्णतया निर्वाह करने में *समर्थ न हों, तब तक विवाह न करना चाहिये। जब वे अपनी* उस महान् ज़िम्मेवारी को अच्छी तरह समझ लें और उसका निर्वाह करने में समर्थ हों, तभी विवाह का उद्देश्य सफल हो सकता है। उसके पहले विवाह करना केवल विषय-वासना की पूर्ति करना और इस प्रकार सामाजिक दुर्व्यवस्था एवं अवनति के कारण होकर नैतिक अधःपतन का भागी होना है।

वैराग्य की भावना, स्वर्ण-परीक्षा और सफलता

बारह वर्ष की आयु में हमारी चरित्रनायिका के पूज्य पिताजी मूलचंदजी का स्वर्गवास होगया था। उससे इनको और विशेषतः इनकी माता और काकासाहब को बड़ा धक्का पहुंचा; चूंकि समस्त कुटुंब के भरण पोषण का और अपनी कुल की कौटुंबिक मर्यादा के परिपालन का भार सब उन्हींके कंधों पर था। अतः समस्त इनका कुटुंब भयंकर आधि से आहत होगया। सबों के हृदय पर बड़ा-भारी वज्राघात हुआ। इस हार्दिक आघात-जन्य व्रण के संरोपण करने में और गृह-संबंधी सुव्यवस्था का प्रबन्ध करने में साल-डेढ़-साल लग गया। इससे हमारी चरित्र-नायिका के विवाह-संस्कार[1] में विलंब होगया; नहीं तो मारवाड़ी समाज में नव या दस वर्ष की कन्या का ही विवाह करना उस वक्त लोग श्रेयस्कर समझते थे। दूसरे समाज में भी यही नियम था। रजोदर्शन के पहिले ही

---

१ संस्कार शब्द से पाठक चौंकें नहीं। सोलह संस्कारों का वर्णन जैनशास्त्रों में किया गया है। समयानुसार परिवर्तन होने पर भी कुछ संस्कारों का प्रचलन अभी भी वर्तमान है।

विवाह को लोग धार्मिक दृष्टिकोण से ठीक समझते थे। यह उनका अन्धविश्वास ही था। वास्तव में तो बाद में विवाह करने में न तो धार्मिकता का ही व्याघात होता है, और न शास्त्रोक्तियों का ही; प्रत्युत अनेक दृष्टियों से वह हितकर ही है। इसके विषय में हम ऊपर कुछ कह आये हैं।

श्रीमूलचंदजी के देहान्त होने के बाद तज्जन्य शोक की निवृत्ति के अनंतर हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई की विवाह-विधि संपन्न करने की तैयारियां होने लगीं। रतनबाई और इनकी छोटी बहिन हुलासबाई—दोनों का विवाह साथ में होने का निश्चय होचुका था। उस वक्त रतनबाई की आयु चौदह वर्ष के लगभग थी। लग्न का मुहूर्त विक्रम संवत् १९४७ के मार्गशीर्ष मास में निकला था। मारवाड़ी प्रथा के अनुसार इस विवाह की भी महिनों पहिले से तैयारियां होने लगीं।

जिस दिन से वैवाहिक क्रियाएं शुरू होतीं हैं, उस दिन चाक बधाया जाता है, और उसी दिन से दूल्हा या दुलहिन जाति के लोगों और मित्र-लोगों के यहां जीमने के लिये जाती है, तथा रात्रि को बनोले फिरते हैं। उस जमाने में खासकर मारवाड़ी-

---

२ 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी'—इत्यादि वाक्य प्रामाणिक नहीं हैं और वे मुगलसाम्राज्य-काल में सामयिक प्रगत्यनुसार बनाये हुए हैं। आज वैसी प्रगति के वर्तमान न रहने से उन उक्तियों का पालन करना आवश्यक नहीं है, उलटे हानिकारक है। आज-कल भी इन वाक्यों को मानने वालों की संख्या कम नहीं है।

समाज में कम-से-कम महिने भर का चाक बधाया जाता था। आज-कल भी कहीं-कहीं वैसा देखने में आजाता है। चाक बधाने के बाद लग्न के दिन तक जाति के और मित्रों के घरों के अधिक संख्या में होने के कारण सभी के यहां जीमना असंभावनीय समझकर कभी-कभी चाक बधाने के दिन से लगभग महिना-पंद्रह दिन पहिले से ही लोगों के यहां दूल्हा या दुलहिन का जीमना शुरू हो जाता है। हमारी चरित्र-नायिका एवं इनकी बहिन का भी आश्विन सुदि से ही जीमना शुरू होगया था। अन्य शब्दों में—लग्न से लगभग डेढ़-दो मास पूर्व ही इनके बनोले फिरने शुरू होगये थे। चाक नहीं बधाया गया था।

उस वक्त हमारी चरित्र-नायिका का हृदय भी मानविक-निसर्गानुसार बड़ी-बड़ी विवाह-संबन्धी उमंगों एवं अभिलाषाओं से आंदोलित होरहा था। कब शादी हो, कब ससुराल चलें—इत्यादि ससुराल-विषयक बड़ी-बड़ी उत्कंठाओं एवं उत्तुंग उमंगों की तरंगों में हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई का हृदय बहा जा रहा था। यह उसी समय की बात है—उसी आयु की बात है, जब यौवन अपनी उमंगों के लिये भूमि तैयार करने लगता है; लेकिन मानव-हृदय शैशव के कुतूहल का दामन नहीं छोड़ पाता है। यह समय चौदह वर्ष के करीब का रहता है। उस समय मानव-हृदय में उमंगों एवं अभिलाषाओं की लाटें उठना पूर्णतया स्वाभाविक है।

विक्रम संवत् १९४७ के आश्विन मास के शुक्लपक्ष की चतुर्दशी का दिन था। यह दिन हमारी चरित्र-नायिका के लिये बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इसी दिन इनके जीवन में महान् परिवर्तन हुआ था। वैषयिक सुख की मृग-मरीचिका की तरफ दौड़ने वाला इनका हृदय अकस्मात् पलट पड़ा, और उसके सर्वथा विरुद्ध नित्य एवं सत्य आत्मिक सुख—आनंद की तरफ उसी वेग से सरपट दौड़ चला। जिस बात की स्वप्न में कल्पना मात्र भी न थी, वही बात आकस्मिक रूप से पैदा हो गई।

उस दिन शाम को हमारी चरित्रनायिका की माता अपनी भुवासास के यहां प्रतिक्रमण करने गई थीं। ये भी वहां पहुंचीं। प्रतिक्रमण के अनंतर शादी-संबंधी बातचीत होने के पश्चात् तीर्थयात्रा की बात निकली।

हमारी चरित्रनायिका रतनबाई के पिताजी की भुवासाहब नें कहा—' मैं तीर्थयात्रा करने के लिए जाऊंगी। '

माता सुगंधबाई ने जवाब दिया—' अभी तो मेरे यहां दो लड़कियों की शादी होने वाली है। सब प्रकार की तैयारियां हो रहीं हैं। मार्गशीर्ष मास में लग्न का मुहूर्त निकला है। वह बहुत दूर नहीं है। इसलिए अभी आप न जाएं, शादी के अनंतर आप जाइयेगा। उस समय मैं भी कार्यों से निश्चिन्त हो जाऊंगी और महिने-दो-महिने के लिये आपके साथ ही तीर्थयात्रा के निमित्त चली चलूंगी। आपके साथ मेरी भी तीर्थयात्रा हो जावेगी। '

इस प्रकार तीर्थयात्रा के प्रकरण की वातचीत सुनकर रतनबाई के हृदय में एकदम तीर्थयात्रा का भाव उदित हुआ। उन्होंने कहा–' मैं भी तीर्थयात्रा को चलूंगी '।

माता सुगंधबाई और उनकी भुवासास ने कहा–' अरे पगली ! अभी तो तेरी शादी होनेवाली है। अभी क्यों तीर्थयात्रा का नाम लेती है ? शादी होने पर तेरे ससुराल वाले तुझे तीर्थयात्रा करावेंगें, अन्यथा वाद में हम कभी करा देगें।'

उस समय इनको सहसा विचार आया कि ' यदि मैं दीक्षा ले लूं तो तीर्थयात्रा वगैरह सरलता से हो सकती है।' हालांकि इसके पूर्वक्षण तक इनका हृदय वैवाहिक उमंगों के प्रवाह में तीव्रगति से वहा जारहा था, अनेक अभिलाषाएं इनके हृदय में संचित थीं। ऐसी बिलकुल विरुद्ध परिस्थिति में रतनबाई के हृदय में सहसा दीक्षा का भाव उदित हुआ। इनने कहा–' मैं तो दीक्षा लूंगी, उससे तीर्थयात्रा सरलतया होसकेगी, और उससे उसमें कोई भी वाधा न आवेगी।'

यह सुनकर इनकी माता और उनकी भुवासास नें कहा–'ऐसी बातें विना बिचारे मुंह से निकालना और उसे पूरा न कर दिखाना उचित नहीं मालुम होता। बात वही मुंह से निकालना चाहिये, जिसे हम लोग पूर्ण कर सकें। हाथी के दांत एक वक्त बाहर निकले कि फिर बड़े यत्न से भी वापिस अंदर नहीं जासकते। वात भी मुंह से बाहर निकली कि वापिस नहीं

की जासकती[1] । यदि यह बात बाहर प्रसृत होगई और दीक्षा न हुई तो अपन लोगों को कितना लज्जित होना पड़ेगा। इसलिये सोच-समझ कर ही शब्दों का उच्चारण करना अनेक दृष्टियों से हितकर है।'

यह हितोपदेश सुनकर भी हमारी चरित्रनायिका रतनबाई का हृदय सिर्फ इसी एक भावना से कि कुछ भी होजाए, अवश्य दीक्षा लेना चाहिये, ओतप्रोत होगया और इसी बात का दृढ संकल्प भी इनके हृदय ने कर लिया। रतनबाई ने कहा—'कुछ भी होजाए, मैं तो जरूर दीक्षा लूंगी। चाहे पूर्व में उदित होने वाला सूर्य पश्चिम में उदित होने लगे, चाहे समुद्र अपनी मर्यादा को छोड़ दे, लेकिन मैं अपने दीक्षा के विचारों से और उसकी भावना से विरत नहीं हो सकती। यदि आप लोग दीक्षा न लेने देंगे, तो मैं अभी इसी क्षण से सब प्रकार के आरंभों का त्याग करती हूं। मैं आपके घर का कोई भी बीनना, चुनना और रसोई बनाने वगैरह का काम न करूंगी, प्रासुक आहार करूंगी, गरम जल पीऊंगी, सामायिक-प्रतिक्रमण के बाद ही रसोई जीमूंगी, और मुझे पढानेवाला जो कोई भी गुरु होगा, उसीकी सेवा करूंगी। इसके सिवाय कोई भी काम करने का प्रत्याख्यान—त्याग

---

१ 'विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यान्ति नो बहिः;
याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव।'
—पण्डितराज जगन्नाथ।

करती हूं। दादासाहब श्रीयुगप्रधान भट्टारक श्रीजिनदत्तसूरिजी महाराज के दर्शन किये बिना अन्न एवं जलका सर्वथा त्याग करती हूं। इस रीति से संसार में भी साधुवत् आचरण करूंगी।'

इस प्रकार रतनबाई ने उस दिन रात को दृढ संकल्प किया और दीक्षा की भावना के सफलीकरण के लिये उत्कृष्ट त्याग किया।

यद्यपि रतनबाई, दीक्षा—चारित्र एवं संसार क्या वस्तु है, यह भी नहीं जानती थी। ऐसी परिस्थिति में सहसा दीक्षा की भावना का उदय होना और उसके सफलीकरण के लिये इस-प्रकार कमर कसकर तैयार होना एवं उत्कृष्टतम त्याग करना बड़ा आश्चर्यजनक है। यह देखकर तो विस्मय-सागर में अवगाहन करना पड़ता है।

इस प्रकार रतनबाई के वाक्यों को सुनकर माता सुगंधबाई और उनकी भुवासास आश्चर्य से दातों तले अंगुली दबाने लगीं। बाद में उननें हमारी चरित्रनायिका को अच्छी तरह समझाया, लेकिन उसका इनके ऊपर कुछ भी असर न हुआ; उलटे 'मर्ज बढता गया, ज्यों ज्यों दवा की' इस न्याय के अनुसार इनकी वह भावना और ज्यादह दृढ होती गई।

पाठकगण! विचार करिये, एक ही घर में, एक ही परिस्थिति में और एक ही माता के गर्भ से पैदा हुई एवं समान रूपसे पाली-पोसी गई दो बहनों में से अकेली हमारी चरित्रनायिका रतनबाई को ही वैसी उत्कट वैराग्य की भावना क्यों उत्पन्न हुई?

उनकी छोटी बहन हुलासबाई को क्यों न हुई? और वह वैराग्य की भावना भी एक साधारण कारण तीर्थ-यात्रा के निषेध करने से! नहीं तो वैराग्योत्पत्ति के दूसरे सबल कारण रहा करते हैं। कुछ लोगों को महान् भयंकर सांसारिक कटुतम अनुभवों से और कुछ को भयंकर आघातों से वैराग्य की भावना तथा संसार से घृणा हुआ करती है। रतनबाई को तो ऐसा कोई भी कारण उपस्थित नहीं था।

ऊपर प्रथम परिच्छेद में लिखी गई उनके गृह की वैराग्य-मय परिस्थिति और माता सुगंधबाई की वैराग्य-भावना भी इसमें असाधारण रूप से कारण नहीं हो सकती है; क्योंकि वही परिस्थिति और वही भावना हुलासबाई को भी लागू थी, उनको उस कारण से क्यों न वैराग्योत्पत्ति हुई? वह परिस्थिति तो बाद तक वर्तमान थी। माता सुगंधबाई की वह भावना भी बहुत समय तक बाद में भी अस्तित्व में थी।

हम ऊपर कह आये हैं कि माता सुगंधबाई को उनके छोटे पुत्र मिश्रीलालजी ने दीक्षापथ से जबरन् रोका था। मिश्री-लालजी में हमारी चरित्र-नायिका से विचारों में इतना महान् वैषम्य क्यों? एक दीक्षा के लिये कमर कसकर खुद तैयार होवे और दूसरा अन्य को भी दीक्षा लेने से रोके! समान परिस्थिति में पालन किये हुए और एक ही माता की कुक्षि से पैदा हुए होकर भी मानसिक भावनाओं में इतना वैषम्य क्यों?

हम आगे कहनेवाले हैं कि इनकी छोटी बहन मघीबाई

भी दीक्षा लेने के लिये उद्यत हुई थी, लेकिन ताले में कुछ काल तक बंद किये जाने से वह भावना विलुप्त होगई, और रतनबाई की भावना जबरदस्त विरोध के होने पर भी लुप्त होने के बजाय उलटे अग्नि में डाले हुए खालिस सोने के समान चमकती ही गई। सोचिये, इतने वैषम्य का क्या कारण ?

हम ऊपर कह आये हैं कि रतनबाई का हृदय मनुष्य-स्वभावानुसार वैषयिक सुखों की तरफ पूर्ण वेग से बहा जारहा था, वह वेग अकस्मात् रुककर एक साधारण कारण से उससे सर्वथा विरुद्ध दिशा में उसी प्रकार चल पड़ा, इसका क्या कारण ?

पाठकगण ! इन सब प्रश्नों का जवाब पुनर्जन्म की फिलॉसफी को माने बिना नहीं मिल सकता है। ये प्रश्न पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त को माननेवाली फिलॉसफी के द्वारा ही हल हो सकते हैं। जो लोग पुनर्जन्म या कर्मसिद्धान्त को नहीं मानते और जो नवयुग के अनुसार भौतिक-विज्ञान का ही आधार रखते हैं, चार्वाक हैं, या पुराने लोगों की कठोर भाषा में नास्तिक हैं, उनको भी इन सवालों को हल करने के लिये पुनर्जन्म या कर्मवाद के मानने के सिवाय अन्य गति नहीं है। इसप्रकार के वैषम्य का असाधारण कारण पूर्वजन्म के संस्कारों और कर्मों का वैषम्य ही है। जिसनें पूर्वजन्म में जैसे-जैसे संस्कार और कर्म संचित कर रखे हैं, वैसी ही उनकी प्रवृत्तिएं और इच्छाएं हुआ करती हैं।

दूसरे दृष्टिकोण से विचार करिये। हर एक प्रवृत्ति इष्ट-

साधनता के ज्ञान से ही हुआ करती है। जब तक मनुष्य किसी भी वस्तु को अनिष्ट समझता है, तब तक उसकी तरफ उसकी प्रवृत्ति नहीं होसकती, इष्ट का साधन समझ कर ही उस तरफ मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। इष्ट-साधनता का ज्ञान भी अनुभूत विषय में ही हुआ करता है। जब कि मनुष्य ने अनुभव ही नहीं किया कि अमुक वस्तु उसको सुखप्रद या उसके इष्ट को सिद्ध करनेवाली है, तब भला, उस वस्तु को देख कर उसे उसमें इष्टसाधनता का ज्ञान कैसे होसकता है ? इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी चरित्रनायिका की दीक्षा की तरफ दृढरूपेण प्रवृत्ति भी उस तरफ दृढ इष्ट-साधनता के ज्ञान के बिना कैसे हो सकती है ? अतः उस प्रवृत्ति का कारण भी इष्टसाधनता का ज्ञान ही मानना होगा, लेकिन दीक्षा का अनुभव तो उन्होंने किया ही नहीं था, फिर अननुभूत वस्तु दीक्षा की ओर उनका इष्टसाधनताका ज्ञान होना असंभव है। इसलिए इस कठिनाई को हल करने के लिये पूर्वजन्म या कर्मवाद की फिलॉसफी का हमें आश्रय लेना होगा।

हमारी चरित्रनायिका ने पूर्वजन्म में चारित्र का अच्छी तरह पालन और उसका इस प्रकार अनुभव किया होगा। इसलिए तादृश-अनुभव-जन्य संस्कारों से उत्पन्न इष्टसाधनता की स्मृति से ही हमारी चरित्रनायिका की दीक्षा की ओर प्रवृत्ति मानना होगी। हुलासबाई, मथीबाई और मिश्रीलालजी वगैरह में उन संस्कारों के अभाव से वैसा स्मृत्यात्मक ज्ञान न होसका और फलतः उनकी उस तरफ प्रवृत्ति न हो सकी।

इस प्रकार के संस्कारों का उद्बोधक इसी प्रकार के पूर्वसंचित अदृष्ट, कर्म या पुण्य—चाहे जिस शब्द से कहिये—को ही मानना चाहिये।

यह यहां आनुषङ्गिक रूप से ध्यान में रखने लायक बात है कि पुनर्जन्म और कर्मवाद की फिलॉसफी को मान लेने पर इस बात को समझने में कठिनाई नहीं पड़ती कि हर एक मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख भोगता है। कोई भी किसी का बनाने वाला और बिगाड़ने वाला नहीं होता। सब कर्मानुसार ही होता है। सृष्टि के वैषम्य का कारण भी ये कर्मों का वैषम्य ही है। अस्तु।

हमारी चरित्र-नायिका अपने पड़ौसी पूनमचंदजी बाफना के यहां पड़ौसी के प्रेम के नाते नित्य रसोई बनाने जाया करती थीं। बाफनाजी बड़े अच्छे श्रावक समझे जाते थे। वे सुबह-शाम प्रतिक्रमण, सामायिक, देवगुरुदर्शन वगैरह धार्मिक आचार नियम से प्रतिदिन किया करते थे। संक्षेप में, वे बड़े धर्मात्मा समझे जाते थे। उनकी तीन औरतें मर गई थीं। चौथी शादी फिर होने वाली थी। जब मगसर मास में हमारी चरित्र-नायिका के लग्न का मुहूर्त निकला था, तभी उनका भी लग्न ठहरा था। उनके भी विवाह की तैयारियां हो रहीं थीं। उनके घर में कोई अन्य मनुष्य या औरत न थी। इसलिए हमारी चरित्र-नायिका ही प्रेम के कारण उनके यहां रसोई बनाया करती थीं। बाद में तो हमारी चरित्र-नायिका की बाल्यावस्था में ही प्रादुर्भूत

हुई उत्कट दीक्षा की भावना से प्रभावित होकर उन्होंने दीक्षा ले ली थी। उस वक्त उनका नाम कीर्तिसागरजी रखा गया था। हमारी चरित्र-नायिका से छह महिने बाद उनकी दीक्षा हुई थी। उस समय उनकी आयु चालीस वर्ष से ऊपर थी। ऐसी आयु में भी लोग शादी करना खराब नहीं समझते थे।

आज भी ऐसी कई शादियें होती हैं। उन मनुष्यों का कहना है कि मरने पर बाद में कोई रोने वाला भी अवश्य चाहिये। वे लोग यह नहीं सोचते कि 'अहिंसा परमो धर्मः—' इस सिद्धान्त के उत्कृष्ट प्रचारक भगवान् महावीर के वंशज होकर और अहिंसा को धर्मरूप से मुख्यतया मानने वाले जैन-धर्म के अनुयायित्व का दावा करने वाले होकर भी वे एक निर्दोष बालिका का जीवन बर्बाद करें और अपने मरने पर उसे सामाजिक आघातों एवं सांसारिक दुःखों को सहन करने के लिये निरवलंब छोड़ दें—इसमें अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ?

सामाजिक दृष्टि से देखिये। एक बालिका अपने पितृतुल्य जर्जर शरीर वाले मनुष्य से जबरन् विवाहित होकर भी कैसे प्रेम कर सकती है ? इस प्रकार का प्रेम करना मनोविज्ञान की दृष्टि से सर्वथा अस्वाभाविक है। प्रेम के बिना उनका गृहस्थाश्रम कैसे सुखमय होगा ?।

नैतिक दृष्टि से भी विचार करिये। जब कि समाज में एक तेरह-चौदह वर्ष की विधवा को भी पुनर्विवाह करने की

आज्ञा नहीं, फिर वृद्ध-लोगों को तीसरी, चौथी और पांचवीं तक शादी करने का अधिकार क्यों ? चालीस वर्ष की उम्र के बाद मनुष्य आसानी से ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है, ऐसी अवस्था में भी उसे इच्छानुसार विवाह करने का अधिकार ! और जिसनें संसार को एवं उसके सुखों को बिल्कुल नहीं देखा, उस निरवलंब एवं अकेले जीवनयात्रा को पूर्ण करनें में सर्वथा असमर्थ बालिका के ऊपर बलपूर्वक लादा हुआ ब्रह्मचर्य के पालन की विवशता का भार ! क्या इसीका नाम नीति है ? दूसरे, इतनी आयु में विवाह कर कुंवारों के हकों को छीन कर सामाजिक दुर्व्यवस्था, अत्याचार एवं व्यभिचार के भागी होने में कितना नैतिक अधःपतन है ? अस्तु ।

दूसरे दिन यानें आश्विन-पूर्णिमा के रोज जब हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई उनके यहां रसोई बनाने के लिये गई, तब उनने बाफनाजी से कहा—'मैंने तो दीक्षा लेने का दृढ संकल्प और उसकी सफलता के लिये प्रतिदिन सामायिक, प्रतिक्रमण एवं देवगुरुदर्शन करने के बाद ही भोजन करने का निश्चय किया है । इसलिए आप मुझे सामायिक एवं प्रतिक्रमण करा दीजिए और आज से आप मुझे पढाना शुरू कीजिए ।'

बाफनाजी ने कहा—''प्रतिक्रमण और सामायिक करने के लिये सर्व-प्रथम नवकार-मंत्र का कंठस्थ होना आवश्यक है । उसके बिना उभय कार्य नहीं होसकते ।'

हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई को नवकार-मंत्र याद नहीं

था। अतः ये उस दिन सामायिक एवं प्रतिक्रमण न कर सकीं और परिणामस्वरूप शरत्पूर्णिमा के दिन इनको चउविहार—निर्जल उपवास करना पड़ा। उस दिन इन्होंने बाफनाजी से नवकार-मंत्र सीखा। दूसरे दिन बाफनाजी के साथ सामायिक एवं प्रतिक्रमण करके पारना किया। तब से रतनबाई इस नियम का अच्छी तरह पालन करने लगीं। उसी दिन से उनके पास ही ' अ आ, इ ई ' से पढने का श्रीगणेश किया और शीघ्र ही पुस्तक वांचने लगीं। इस प्रकार हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई के धर्म और विद्या—उभय के सर्व-प्रथम गुरु श्रीबाफनाजी ही हुए और रतनबाई ने खुद ने ही अपनी इच्छा से लिखना-पढना शुरू किया।

इस घटना के लगभग पन्द्रह-बीस दिन बाद रतनबाई के पिताजी की भुवासाहब की लड़की मृगाबाई श्रीपूनमश्रीजी महाराज साहब के, जो कि उन दिनों बीकानेर में विराजमान थे, दर्शनों के लिये गई। उस समय रतनबाई ने उनके साथ श्रीपूनमश्रीजी महाराज साहब के पास समाचार भेजे कि फलोधी में श्रीमूलचंदजी गोलछा की लड़की उनके पास दीक्षा लेने की उत्कटतम भावना रखती है। अतः वे शीघ्र ही फलोधी पधारें। इन समाचारों को सुनकर श्रीमहाराज साहब समझे कि इनके सगोत्रीय गोलछा के ही घर की कोई अन्य स्त्री दीक्षा लेनेवाली होगी। रतनबाई के विषय में तो उनको कल्पना तक भी न हुई; क्योंकि माता सुगंधबाई कुछ दिन पहिले ही उनके दर्शनों के

लिये वहां गई थीं। तब उन्होंनें श्रीमहाराज साहब के पास रतनबाई की शादी और तद्विषयक तैयारियों का जिक्र किया था।

वहां से कुछ दिन बाद श्रीमहाराज साहबनें फलोधी की तरफ विहार किया। अनुक्रम से विहार करते हुए वे फलोधी से आठ कोस दूर बापगांव में आये। उस वक्त फलोधी से बहुत से मनुष्य उनको लिवा लाने के लिये उनके समक्ष गये। तब रतनबाई भी उनके सम्मुख बापगांव तक जाने के लिये उद्यत हुईं। उस समय इनके काका साहब बागमलजी ने, जो कि मूलचंदजी—रतनबाई के पिताजी के दिवंगत होने पर घर में कर्ता-धर्ता थे, और जिनके ही ऊपर समग्र उस कुटुंब के भरण-पोषण का भार एवं उत्तरदायित्व था, इनको मना किया। उस वक्त रतनबाई ने कहा—'अभी तो आप मुझे चाहे रोक लीजिए, लेकिन जब मैं दीक्षा लूंगी, तब आप नहीं रोक सकेंगे।' कुछ वादविवाद के बाद उन्होंने रतनबाई को जाने के लिये अनुमति देदी; लेकिन रतनबाई, 'जब आपने मना कर दिया तो अब नहीं जाऊंगी'—कहकर फिर नहीं गईं।

पाठकगण! इस प्रकरण से हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई में बड़ा-भारी आत्मगौरव एवं आत्माभिमान की रक्षा का भाव मालुम होता है। ये महाराज साहब के दर्शनरूप पुनीत कार्य के लिये ही बापगांव जारही थीं, ऐसे कार्य के लिये इनको इन्होंके काका साहब नें मना किया, इससे इनके आत्मगौरव एवं आत्माभिमान को बड़ा धक्का पहुंचा। यदि उसमें कुछ नैतिक, सामाजिक

या धार्मिक खराबी होती, तो उसे इनको बतलाकर समझा देना था; लेकिन किसी भी खराबी के न होते हुए जबरन किसी की भी—चाहे वह बच्चा हो, या बड़ा हो, उत्कट इच्छा पर व्याघात करने से उसके आत्मगौरव पर अवश्य धक्का पहुंचता है। प्रत्येक मनुष्य को—चाहे वह बड़ा ही क्यों न हो, बच्चे तक के आत्मगौरव की रक्षा करना आवश्यक है। अज्ञान से बच्चों के आत्मगौरव की रक्षा न कर उनमें उसकी भावना का विलोप कर देना उचित नहीं। आज समाज की अवनति एवं देश की परतन्त्रता के कारणों में एक कारण आत्मगौरव एवं आत्माभिमान की भावना का अभाव भी है।

यहां पर यह अवश्य ध्यान में रखने लायक बात है कि अहंकार एवं आत्माभिमान में उतना ही भारी भेद है, जितना जमीन और आसमान में। एक भयंकर दुर्गुण है तो दूसरा उतना ही लाभप्रद आवश्यक सद्गुण। महाप्रतापी रावण का सर्वनाश अहंकार के द्वारा हुआ और अंग्रेज-जाति के सार्वभौमिक साम्राज्य की विस्तृति एवं उन्नति का कारण आत्मगौरव की रक्षा की भावना है। नेटाल (अफ्रिका) में पूज्य महात्मा गांधी के अपनी देशीय पगड़ी बांधने के कारण हाइकोर्ट में जज द्वारा किये गये भयंकर अपमान में भी आत्मगौरव की भावना ही कारण थी। आज कांग्रेस की खद्दर पहिनने की नीति में भी एक कारण आत्मगौरव भी है। अस्तु।

दूसरे दिन प्रातःकाल बापगांव से विहार कर श्रीपूनमश्रीजी

महाराज साहब, जिनका अपर नाम पुण्यश्रीजी था, बिहार करते हुए फलोधी से दो कोस दूर किसी गांव में पधारे। तब घरवालों की अनुमति से रतनबाई भी महाराज साहब के संमुख दो कोस तक गईं। जब महाराज साहब उपाश्रय में पधारे, तब उन्होंने उपस्थित श्रावकों से पूछा—'वह वैरागिन, जिसने कि दीक्षा लेने की भावना के समाचार हम को बीकानेर भेजे थे, कहां है ?

रतनबाई नें महाराज साहब के संमुख उपस्थित होकर विनम्र शब्दों में कहा—'स्वामिनाथ, मैं हूं। मेरी दीक्षा लेने की उत्कट अभिलाषा है '

यह सुनकर लोगों ने कहा—'अरे! तुम अभी से ऐसे शब्द मुंह से क्यों निकालती हो, आज तक कुंवारी लड़की ने कभी भी दीक्षा न ली है ?'

रतनबाई ने कहा—'मैं तो बराबर दीक्षा लूंगी, चाहे प्राण चले जाएं, लेकिन मेरी प्रतिज्ञा, मेरा संकल्प अन्यथा नहीं हो सकता। यदि मुझे कोई दीक्षा लेने से रोकेगा, तो मैं जंगल में जाकर अनशन करके खड़ी हो जाऊंगी और प्राण-त्याग कर दूंगी।'

यद्यपि रतनबाई अनशन क्या वस्तु है और उसका स्वरूप क्या है—यह नहीं जानती थी; इन्होंने तो अनशन का सिर्फ नाम सुन रखा था। इनको तो इतना ही ज्ञान था कि अन्न-पानी बिलकुल नहीं खाना-पीना और प्राण-त्याग कर देना—इसीसे शायद अपनी अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है।

श्रीरत्नश्रीजी के दीक्षा-प्रदाता गुरु
श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब

इस प्रकार जब विवाद उपस्थित हुआ और दीक्षा में अनेक बाधाएं देखीं, तब महाराज साहब वहां दो-चार दिन ठहर कर, संसारावस्था की रतनबाई की काकी और उस समय की श्रीविवेकश्रीजी महाराज साहब को, अपनी अन्य शृंगारश्रीजी नामक शिष्या के साथ वहां इनको उपदेश देने और इनकी भावना को दृढ बनाने के लिये रख कर, आप स्वयं फलोधी से लोहावट नामक आठ कोस दूरपर के ग्राम को विहार कर गये।

इसके पांच-सात दिन वाद हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई भी उपर्युक्त साध्वीजी महाराज साहब के साथ लोहावट बड़े महाराज साहब के पास गईं। वहां उन्होंनें महाराज साहब को विनीत शब्दों में प्रार्थना की—'आप मुझ पर अनुग्रह कर फलोधी अवश्य पधारें और मुझे दीक्षा देकर चरितार्थ करें।'

इस प्रार्थना से द्रवित-हृदय महाराज साहब कुछ दिन बाद फिर फलोधी पधारे। तब रतनबाई भी उनके साथ थीं। मार्ग में रतनबाई नें उनसे पूछा—'मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मैं उभयपक्ष—पितृपक्ष और श्वसुरपक्ष—वालों की दीक्षा के लिये अनुमति प्राप्त करने में सफल होसकूं; चूंकि दीक्षा लेने के लिये मेरी तीव्रतम अभिलाषा है।'

उन्होंनें कहा—'तुम अनशन करना प्रारम्भ कर देना, यदि वे लोग तुम्हें अनुमति देने से इन्कार करें।'

फलोधी आने पर रतनबाई नें अपने काका साहब बागमलजी से, जो कि घर में सब से बड़े थे, चूंकि इनके

पिताजी का उस समय देहावसान हो चुका था, दीक्षा के लिये अनुमति मांगी। उनके इन्कार करने पर इन्होंनें पूर्ण अनशन करना प्रारंभ किया। इसीको अन्य शब्दों में हम सत्याग्रह कह सकते हैं।

पाठकगण ! यह सत्याग्रह की भावना भारतवर्ष में वहुत काल पहिले से प्रचलित है। इस भावना और इसकी सिद्धि के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों का 'सत्याग्रह' यह नामकरण तो पूज्य महात्माजी नें अफ्रिका-सत्याग्रह के समय किया था। हिरण्यकशिपु के विचारों के विरुद्ध प्रल्हाद की ईश्वरभक्ति रूप भावना और उससे रंचमात्र भी न डिगने में भी सत्याग्रह का स्वरूप वर्तमान था। आपाततः देखने में सत्याग्रह की शक्ति परिमित-सी प्रतीत होती है, लेकिन इसमें कितनी शक्ति वलवद्रूप से सन्निहित है, इसका अनुभव अभी-अभी कुछ वर्ष पूर्व कांग्रेस की सत्याग्रह की नीति के समय हम कर चुके हैं। प्रल्हाद की अभूतपूर्व विजय भी इसीकी वदौलत हुई थी। हमारी चरित्र-नायिका रतनवाई नें भी इसी सौम्य, शांति एवं अहिंसा से ओत-प्रोत सत्याग्रह-रूप अमोघ शस्त्र को अपनी कार्यसिद्धि के लिये उठाया।

आपाततः यह विचारश्रेणी कुछ मनुष्यों के मगज में उठ सकती है कि महाराज साहव पुण्यश्रीजी नें रतनवाई को यह उपाय वतला कर वहकाने का प्रयत्न किया, लेकिन यहां सोचना इतना ही है कि उनकी भावना क्या इसी प्रकार की थी? नहीं, उन्होंनें इतने दिनों में रतनवाई की वैराग्य-भावना की

उत्कटता का पूर्ण अनुभव कर लिया था। प्रत्येक मनुष्य की सद्भावना की सफलता के लिये उपाय बतलाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है, इस सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने तो अपने कर्तव्य का पालन किया था। जो साधु-साध्वी बहकाने की भावना से वैराग्य की भावना से रहित किसी भी बालक या बालिका को इस प्रकार के उपदेश दे, उनसे पाठकगण सावधान रह सकते हैं।

अनशन के दो-तीन दिन बीते थे, जब कि रतनबाई अपनी भुवासाहब के श्वसुर तनसुखजी के पास गई और उनसे कहने लगीं—'कृपया आप कोशिश करके मुझे दीक्षा की अनुमति दिला दीजिये'।

उन्होंने यह स्वीकार किया, किन्तु उनकी इस विषय में कुछ उपेक्षा देखकर रतनबाई ने उनके यहां दिन-भर धरना दिया। रात को उनका हृदय द्रवित हुआ, तब उनसे अनुमति दिलाने के विषय में दृढ़ प्रयत्न करने के लिये प्रतिज्ञा करवा कर आप धरना देने से विरत हुई। जब रतनबाई घर जाने लगीं, तब भुवासाहब ने इनके पोलके के पाकेट दाख, बादाम और पिश्ते आदि मेवे से, इस भावना से कि यह तीन दिन की भूखी-प्यासी है, चुपचाप कुछ खालेगी, जबरन भर दिये; लेकिन इनने उसमें से कुछ नहीं खाया और रात-भर वे ऐसे ही पाकेट में भरे पड़े रहे। दूसरे दिन प्रातःकाल रतनबाई अपनी छोटी बहिन मगनबाई को पास में बिठा कर उसको वे सब अपने हाथ

से खिलाने लगीं और दीक्षा के विषय में वातचीत करने लगीं । बात-बात में उसके सिर के वालों का लुञ्चन भी करने लगीं । करीव तीन या चार इञ्च समचौरस भाग का लुंचन किया होगा कि इनकी माता वहां आ पहुंची । उन्होंने इनको मघीवाई का लुंचन करते देख वहुत क्रुद्ध होकर डाटा और उस कर्म से रोका । जिस जगह इन्होंने लुंचन किया था, उस जगह मघीवाई के आजीवन वाल न उगे, हालांकि वाल उगने के लिये वाद में वहुत से प्रयत्न भी किये गये थे । अभी सात-आठ वर्ष पहिले भी कुल लोगों नें उनका सिर देखा था, उनका भी प्रत्यक्ष यही था कि उस जगह पर एक भी वाल उगा हुआ न था । वाद में पुण्यश्रीजी महाराज साहव से भी इस विषय में पूछा गया था । उन्होंनें इसका कारण रतनवाई के सतीत्व का प्रभाव वतलाया था । कुछ भी हो, कार्य तो प्रत्यक्ष है, अतः उसमें इनके सतीत्व या आत्मिक तेज आदि किसी भी कारण की कल्पना कर लीजिए ।

इस वक्त मघीवाई भी इनकी दीक्षा की भावना से प्रभावित होकर और इनके मोह से दीक्षा लेने के लिये कटिवद्ध हुई थी । तव घरवालों नें उनको वहुत डाटा और एक कोठरी में कुछ काल तक वंद कर दिया तो उनकी वह भावना, जो कि श्मशान-वैराग्य-सी थी, कपूर की तरह उड़गई । फिर कभी भी वह भावना उदित न हुई । मघीवाई का देहावसान लगभग सात-आठ वर्ष पहिले ही हुआ है ।

इस प्रकार अनशन के जव चार दिन वीत चुके, और

उसकी चर्चा गांव में और समाज में सर्वत्र चलने लगी; तब समाज के प्रधान पंच लोगों ने भय-भीत होकर लोगों को एकत्रित कर पंचायत सभा की। उसमें लगभग एक हजार मनुष्य एकत्रित हुए थे। उस वक्त वहां रतनबाई भी बुलाई गई और इनको दीक्षा न लेने और अनशन तोड़ने के लिये कहा गया, समझाया गया और इसलिए इनके ऊपर जोर भी दिया गया।

तब रतनबाई ने कहा—' मैं किसी के भी सिखाने से, बहकाने से या प्रतिबंध से दीक्षा नहीं लेती, वरन् मैं अपनी तीव्रतम अभिलाषा के वशीभूत होकर ही इस पथ की पथिका हुई हूं। इसलिए मेरी इस नैसर्गिक प्रवृत्ति को कोई नहीं रोक सकता। मैं अवश्य दीक्षा लूंगी। अतः आप-लोग कृपा करके मुझे उभय-पक्ष से अनुमति दिला दीजिए, जिससे मैं निर्बाधित रूप से शान्ति के साथ अपनी प्रवृत्ति को सफल कर सकूं।'

इस प्रकार दीक्षा-विषयक उत्कट-इच्छा वाली रतनबाई की वाणी सुनकर सब लोगों ने इनकी मनो-भावना के दार्ढ्य को देख कर निश्चय किया कि जब रतनबाई की ऐसी भावना है तो उन्हें अनुमति दिलाने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये; यही अपन पंच लोगों का कर्तव्य है। इस प्रकार निश्चय करके उस सभा के प्रतिनिधि-स्वरूप चालीस या पचास के लगभग प्रधान-प्रधान मनुष्य अनुमति प्राप्त करने के लिये रतनबाई के श्वसुर-गृह की ओर चले।

करीब एकाध फर्लांग वे लोग गये होंगे कि मार्ग में उनको

विचार आया—'अपन लोग इस कार्य को लेकर वहां चल रहे हैं; लेकिन उस लड़की का क्या ठिकाना! कल से उसका विचार बदल जाए और वह शादी के लिये तैयार होजाए तो अपन लोग लज्जा से मुंह दिखाने लायक न रहेंगे।' ऐसा सोचकर वे लोग रास्ते में से ही लौट पड़े और शेरासिंहजी के घर नहीं गये।

इधर उन लोगों के जाने के बाद रतनबाई को विचार आया कि शायद ये लोग मुझे समझाने के लिये कुछ दूर चले जायेंगे और रास्ते से ही लौट पड़ें तो? ऐसा विचार कर ये खुद भी उनके पीछे-पीछे खुफिया तौर पर चलीं। जब वे लोग कुछ दूर जाकर खड़े होकर कुछ विचार करने लगे; तब ये भी कुछ दूर पर उनकी नजरों से ओझल होकर देखने लगीं। वे लोग जब वहीं से वापस लौट पड़े, तब ये भी अदृश्य रूप से उनके आगे ही आकर, घर पर अपने स्थान पर बैठ गईं। वे लोग घर आये और बात बना कर कहने लगे—'बाई! वे लोग तो आज्ञा नहीं देते। हमने उनको बहुत समझाया, लेकिन उन लोगों ने हमारी एक बात भी नहीं मानी।'

यह सर्वथा सफेद झूठ देख कर रतनबाई ने निर्भय होकर उन लोगों की जोरदार शब्दों में खबर ली—'आप लोग इस नगर के प्रतिष्ठित एवं सम्माननीय होकर भी झूठ बोलते हो, आप लोगों को कुछ लज्जा आना चाहिए और दुर्गति से डरना चाहिए। आप लोग रास्ते में से ही लौट कर आ रहे हैं, और मुझे

व्यर्थ ही बना रहे हैं। आप वहां तक गये ही कब?'

छोटी बालिका के मुंह से इस प्रकार फटकार की बातें सुन कर वे लोग बड़े लज्जित हुए और यह कह कर कि खैर, आज तो जो कुछ हुआ सो हुआ, कल-परसों तक तुम्हारे श्वसुर-पक्ष वालों को अवश्य समझायेंगें, अपने-अपने घर की तरफ चले। इस प्रकार उस दिन की पंचसभा का काम पूर्ण हुआ।

रतनबाई के अनशन का सातवां दिन था। उस दिन इनके बड़े काका साहब बागमलजी का स्वास्थ्य अधिक खराब था। उनको उस दिन बड़ा रंज हुआ। उन्होंने घरवालों से कहा— 'यह लड़की ऐसे ही मर जावेगी, तुम जाओ और उसको समझाओ। मेरा नाम लेना, और कहना कि मेरी तबियत खराब है, मैंने कहलवाया है और आज्ञा दी है, इससे यह कुछ खाले'।

यह सुन कर वे लोग उपाश्रय में गये, क्योंकि अनशन के प्रारंभ के दिवस से रतनबाई श्रीमहाराज साहब के पास उपाश्रय में ही रहती थी। उन्होंने रतनबाई से उनके काकाजी का संदेश कहा। तब, अस्वास्थ्य की हालत में इस समय उनका कहना न माना तो उनके दिल पर कड़ा आघात पहुंचेगा और उससे शायद उनका स्वास्थ्य अधिक खराब हो जाए—यह विचार कर रतनबाई ने आधी रोटी खाकर आध-पाव के लगभग पानी पिया।

इस प्रकार हमारी चरित्र-नायिका ने अपने काका साहब के प्रेम के कारण और उनके स्वास्थ्य की खराबी की भयंकरता देख कर अनिष्ट की आशंका से उस सातवें दिन थोड़ा खाकर

अनशन-भंग किया। इनकी वह आशंका भी बाद में सत्य निकली, क्योंकि बागमलजी साहब का इनकी दीक्षा होने के दूसरे ही दिन देहान्त हो गया था। यह घटना उस अनशन-भंग के दिवस से लगभग बाईस दिन बाद हुई थी। यह हम अगले प्रकरण में देखेंगें। उस दिन रतनबाई का अनशन-भंग करना भी समुचित ही था, अन्यथा अन्तिम समय में काका साहब के हृदय को आज्ञा न मानने से कड़ा आघात पहुंचता। लौकिक या व्यावहारिक शब्दों में—उनके मन की मन में ही रह जाती।

उसी दिन की बात है, दोपहर को रतनबाई अपनी विधवा भाभी के साथ, जो कि किसी गोलछा गोत्रीय की बहू होने के कारण इनके नज़दीक रिश्ते में थीं और उस समय घर-वालों की अनुमति मिल जाने पर दीक्षा ले रही थीं, तथा जिनके बनोले भी निकल रहे थे, घर से निकल कर उपाश्रय में जा रही थीं। रास्ते में एक बड़े हाकिम का घर था, जो कि आज-कल के डिस्ट्रिक्ट मॅजिस्ट्रेट के पद पर काम करता था। सारे गांव में रतनबाई की दीक्षा की हलचल के प्रचलित होने पर उनको भी वे सब बातें ज्ञात होगई थीं। शायद रतनबाई के ससुराल वालों नें घनिष्ठ परिचय होने की वजह से उनको कहा होगा कि वे उस लड़की—रतनबाई को डरा-धमका कर दीक्षा की प्रवृत्ति से रोकें; क्योंकि उस वक्त अपनी मांग—वाग्दत्ता कन्या को खोना लोग अपने लिये बड़ी बेइज्जती और महान् कलंक मानते थे।

जब रतनबाई उधर से निकली, तब उन हाकिम के किसी नौकर नें उनको बतला दिया—"हुजूर, यह लड़की, जो कि उस तरफ जा रही है, वही रतनबाई है, जिसके बारे में समस्त गांव में हलचल मच रही है।"

तब उन्होंनें रतनबाई को बुलवाया और दीक्षा न लेने के लिये बहुत समझाया, लेकिन इन्होंनें नहीं स्वीकार किया। उस समय उन्होंनें कुछ दंडनीति का आश्रय लेकर रतनबाई को डराया और धमकाया—"यदि तूं शादी करना और दीक्षा से विरत होना स्वीकार नहीं करेगी, तो देख, (सामने पड़ी हुई बेड़ियें दिखा कर) ये बेड़ियां तेरे पैर में डाल दूंगा।"

रतनबाई नें कहा—"कृपा करके धृष्टता माफ करियेगा, क्या मैं आप से पूछ सकती हूं कि ये बेड़ियां आप मेरे पांव में डाल रहे हैं, वे न्याय से या अन्याय से? यदि न्याय से? तो आपके भी बड़ा-भारी कुटुंब है और मेरे भी है, उन सबों के पहिले बेड़ियें डाल कर फिर मेरे भी डाल दीजिए, मुझे मंजूर है। क्योंकि न्याय से तो जैसे मैं हूं, वैसे ही वे सब हैं, दोनों ही निर्दोष हैं। इस प्रकार निर्दोषत्व के साम्य होने पर भी मेरे ही पैर में बेड़ियें डालने और उनके न डालने में कोई भी विशेष हेतु दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि अन्याय से? तो आप स्वयं अन्याय स्वीकृत कर रहे हैं, और आपके हाथ में सत्ता है, ऐसी हालत में आप इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं; चाहे बेड़ियें डाल दीजिए, चाहे मार डालिए।"

इस प्रकार रतनबाई के निर्भय एवं युक्तियुक्त वाक्य सुन कर उन हाकिम महोदय की आंखों में सरसों फूल उठी। उन्होंने अग्निमय नेत्रों से रतनबाई की ओर देखा एवं इनको और अधिक रूप से धमकाना तथा डराना शुरू किया।

तब रतनबाई ने कहा—'देखिए साहब, आपको लाल होना और इस तरह मुझे डराना-धमकाना उचित नहीं है। आपकी बात भी मानना मेरे लिये कोई बड़ी बात नहीं है, बशर्ते कि आप मेरी शर्तें मंजूर करें। मैं इसी वक्त और यहीं आपके सामने शादी करने को तैयार हूं, यदि आप मुझे लिखदें, या इन बातों का ठेका लेलें कि मैं आजीवन विधवा[1] न होऊंगी, मैं आजीवन स्वस्थ बनी रहूंगी और आजीवन मुझे कोई दुःख न होगा; चूंकि इस अवस्था में दुःख हो तो इसमें रहने से क्या फायदा? इन दुःखों की निवृत्ति के लिये ही तो मैं दीक्षा लेरही हूं। यदि ये दुःख मुझे आजीवन न हो तो मैं दीक्षा से विरत होने के लिये समुद्यत हूं।'

यह सुन कर हाकिम साहब को बड़ा क्रोध चढ आया। नेत्र लाल होगये। भ्रूकुटियें टेढ़ी होगई। ओठ फड़कने लगे। उन्होंनें अपने नौकरों को हुक्म दिया—"इसको एक कोठरी में बंद करके ताला लगा कर चाबी मुझे सौंप दो' रतनबाई नें कहा—"आप अन्याय न करिए। अन्याय करेंगे तो

---

१ रतनबाई की दीक्षा के पंद्रह वर्ष बाद ही नथमलजी का देहांत होगया था। इनका वह प्रातिभ-ज्ञान सर्वथा सत्य निकला।

सात दिन में आपकी अधिकार-सत्ता चली जायगी।"[१] हाकिम नें कुछ नहीं माना और रतनबाई को एक कोठरी में बंद कर दिया। करीब एक घंटे का समय बीता होगा कि ताला सहसा टूटकर गिर पड़ा और किवाड़ खुल गये। तब उन हाकिम महोदय नें लज्जित होकर इनको छोड़ दिया। वहां से ये उपाश्रय में गईं और सब हाल पूज्य महाराज साहब को निवेदन किया। सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए।

प्रिय पाठकवृन्द! यह हमारी चरित्र-नायिका की दीक्षा-भावना की स्वर्ण-परीक्षा थी। यदि वह भावना क्षणिक-वैराग्य-सी होती तो इस प्रकार के भय के उपस्थित होने पर और डराने-धमकाने पर अवश्य विलुप्त होजाती; लेकिन ऐसी कठोर परीक्षा के समय में भी वह उलटी देदीप्यमान होती गई। इससे रतनबाई के उत्कृष्ट धैर्य, तेज और आत्मबल का अच्छी तरह परिचय मिलता है। इस प्रकार की परीक्षा में उत्तीर्ण होना रतनबाई की आत्मा की महत्ता का परिचय देता है। एक एकाकी, अशिक्षित, व्यवहार में सर्वथा अनभिज्ञ एवं सरला मारवाड़ी कन्या का गांव के बड़े ऑफिसर के सम्मुख निर्भयता से उत्तर देना, उसके कठोरता से धमकाने पर भी अपने संकल्प

---

१ रतनबाई की वाणी सत्य हुई और सातवें दिन ही वे हाकिम साहब पदच्युत कर दिये गये। बाद में जब ये विहार करती-करती फलोधी गई थीं, तब वे निर्धनावस्था में मार्ग में मिले थे। उस समय उन्होंने क्षमा-प्रार्थना भी की थी, लेकिन फिर क्या होसकता था!

से रत्ती-भर भी च्युत न होना और उसकी दी हुई सजा को अपने आत्मबल एवं तेज से स्वीकृत करके भी व्यर्थ कर देना कोई साधारण काम नहीं है।

यद्यपि उन हाकिम महाशय का यह कृत्य कि—इस प्रकार एक नाबालिग एवं कानून की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष कन्या को धमकाना, कोठरी में बन्द कर देना और उसके पक्ष की सफाई न सुनकर सहसा इच्छानुसार दंड देकर न्याय का खून कर देना, अधिकार की दृष्टि से सर्वथा नाजायज है, ऐसा उनको करते नहीं आता; तथापि शेरसिंहजी के घनिष्ट परिचय की दृष्टि से उनके कार्य (शादी) की सफलता के लिये व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार का कार्य करना लौकिक दृष्टि से कुछ अंशों में ठीक है। आज-कल भी पुलिस आदि डिपार्टमेंट के मनुष्य इसी प्रकार व्यवहार करते नजर आते हैं। लेकिन इतना अवश्य सत्य है कि अपने अधिकार-मद से अंध होकर इस प्रकार का व्यवहार करना अपने व्यक्तित्व, अधिकार एवं जनता के अज्ञान का पूरा दुरुपयोग करना है और जनता की कमजोरी का अनुचित लाभ उठाना है। यह अपने देश के नैतिक अधःपतन की पराकाष्ठा है।

ताले का टूटकर गिर पड़ना और खुद ही किवाड़ों का खुल जाना आपाततः विस्मय-जनक है; लेकिन उन मनुष्यों के लिये, जिनके पास उत्कृष्ट आत्मिक तेज एवं विकसित आध्यात्मिक शक्तियें विद्यमान हैं, जगत् में कुछ भी असंभव नहीं है।

अपने पूर्वज बड़े-बड़े आचार्यों एवं ऋषि-मुनियों को देखिए, उनमें इसी प्रकार के बड़े-बड़े चमत्कार देखने को मिलते हैं। कलिकाल-सर्वज्ञ भगवान् हेमचन्द्राचार्य, प्रसिद्ध दार्शनिक-सार्वभौम सिद्धसेन दिवाकर और अपूर्व चमत्कारी जंगम-युग-प्रधान भट्टारक दादासाहब जिनदत्तसूरिजी वगैरह ने अपने-अपने जीवन में जो अपूर्व चमत्कार—जैनधर्म की वृद्धि करने के लिये—किये हैं; उनमें भी उनकी अभूतपूर्व विकसित आत्मिक शक्तियें एवं आध्यात्मिक तेज ही असाधारण रूप से वर्तमान थे। जहां-जहां महान् आत्माएं देखने को मिलती हैं, वहां अवश्य एक-न-एक चमत्कार भी देखने को मिल जाता है। यहां पर ताले का टूट पड़ना और किवाड़ों का खुल जाना भी रतनबाई की उत्कृष्ट आत्मिक शक्ति और तेज का परिचायक है। इससे हमें मालूम होता है कि भविष्य में रतनबाई भी एक महान् आत्मा सिद्ध होनेवाली है।

इस उपाय में भी असफल होकर रतनबाई के श्वसुर ने जोधपुर में बड़े ऑफिसर को तार दिया—"वह लड़की, जिसके साथ हमारे लड़के की शादी निश्चित हुई है, शादी के लिये इन्कार कर जबरन दीक्षा लेने के लिये कटिबद्ध हुई है। हमारे सब उपाय व्यर्थ हुए हैं। हमारी मांग का हमें न मिलना हमारे लिये बड़ी बेइज्जती का कारण है। इसलिए आप समुचित उपाय करिए, जिससे हम उसे पकड़ कर जबरन शादी करने के लिये बाध्य करें।"

वहां पर उनके ऑफिस में बडे-बडे पदाधिकारी जैन थे। उन लोगों ने भी सब हलचलें अच्छी तरह सुन रखीं थीं; चूंकि फलोधी की उस समय की सब से बड़ी सामाजिक हल्चल वही थी। उन्होंने सोचा कि उस लडकी की प्रबलतम इच्छा है, उसको रोकना ठीक न होगा। शायद उसके किसी कुवाक्य से अपना अनिष्ट होजाए। यह सोचकर उन लोगों ने हाकिम के संमति पूछने पर यही संमति दी कि उसे दीक्षा दिलवाने का ही ऑर्डर दिया जाय। समझाने पर उन ऑफिसर महोदय ने फलोधी के हाकिम को तार द्वारा ऑर्डर दिया कि उस लड़की को जबरन शादी करने के लिये मजबूर मत करो और उसका दीक्षा-महोत्सव होने दो। यह तार पाकर वह हाकिम भी शांत हुआ और रतनबाई के ससुराल वाले भी ठंडे पड़ गये; चूंकि इसके आगे तो उनका कोई उपाय था ही नहीं।

जब फलोधी के पंचों को ये समाचार मालुम हुए, तब सब इकठे हुए, और बडी-भारी पंचायत-सभा बुलवाई। उस दिन उस सभा में करीब पांच हजार मनुष्य उपस्थित होंगे। उस समय पंचों ने रतनबाई को फिर समझाया और दीक्षा से विरत होने के लिये कहा, लेकिन ये अपने संकल्प पर सुदृढ़ रहीं। तब पंचों ने आग्रह कर इन्हें इनके पितृ-पक्ष वालों से अनुमति दिलाई और सबों की संमति से कुछ प्रधान मनुष्य शेरासिंहजी के पास गये, उनसे भी समझा-बुझा कर अनुमति लेआये और रतनबाई को कहा। इन्होंने प्रार्थना की

कि वे खुद चल करके साध्वीजी महाराज साहब को कह आवें। तब वे लोग उपाश्रय में गये और वहां महाराज साहब को सविधि वंदना कर उनको कहने लगे—" यह लड़की दीक्षा ग्रहण करने के लिये तीव्र अभिलाषिनी है। हमने और अन्य लोगों ने भी इसको इस पथ से रोकने के लिये बहुत प्रयत्न किया, लेकिन इस विषय में सभी असफल रहे। यद्यपि आज तक कुंवारी कन्या ने दीक्षा न ली है और रूढ़ि की दृष्टि से इसको दीक्षा की अनुमति देना अनुचित है, लेकिन योग्यता और नीति की दृष्टि से इसको दीक्षा की अनुमति देना ही न्याय्य है। केवल रूढ़ि का पालन करने में नीति आदि को छोड़ देना महामूर्खता है। इसलिए यह आपको अर्पित है। आप इसे ग्रहण करें। हम-लोग इसके पिता और श्वसुर—दोनों के ही घरों से इसकी दीक्षा के लिये अनुमति ले आये हैं। अब आप चाहें तब, सुमुहूर्त में इसे दीक्षित कर कृतार्थ करें "।

पूज्य महाराज साहब पुण्यश्रीजी ने भी धन्यवाद-पूर्वक 'तथास्तु' कहकर सब लोगों को विदा किया और अपने उप-देशानुसार चलकर दीक्षा के लिये अनुमति ले लेने एवं अपने उपदेश पर दृढ़ रहने के लिये रतनबाई को बार-बार सहर्ष धन्यवाद दिया और इस अभूतपूर्व सफलता के लिये हृदय से बधाई दी।

इस प्रकार नौ दिन तक अनशन करने पर हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई को दीक्षा लेने के लिये दोनों ही पक्षों—पितृपक्ष

और श्वसुरपक्ष—से अनुमति मिली। कन्या पर कुमारावस्था में पितृगृह वालों का तो अधिकार रहता ही है और इनकी सगाई होजाने के कारण श्वसुरगृह का भी इनके ऊपर अधिकार था। इसलिए दोनों की ही अनुमति की आवश्यकता हुई, चूंकि दीक्षा-ग्रहण घरवालों की अनुमति मिलनेपर ही होसकता है।

नौ दिन तक रतनबाई ने अन्न का सर्वथा त्याग किया था। यहां पर अन्न से तात्पर्य जल—गरम करके ठंडे किये हुए—के सिवाय समस्त भक्ष्य और पेय पदार्थों से है। इसलिए इन्होंने फलों के रस को ग्रहण न किया था। सिर्फ काका साहब बागमलजी को आत्यंतिक अस्वस्थता की हालत में अधिक हार्दिक आघात-जन्य दुःख न हो—इस कर्तव्य-परायणता की दृष्टि से इन्होंने सातवें दिन एक-चतुर्थांश रोटी खाई होगी। इसके अलावा बिलकुल कुछ भी नहीं खाया। नवें दिन शाम को इन्हें अनुमति मिली थी।

दसवें दिन रतनबाई पूज्य महाराज साहब हेमाचार्यजी का लेक्चर सुन रही थीं। उस समय अनुमति मिल जाने पर भी अपनी सास के विरोधी भावों को लक्ष्य कर इनको बड़ा भय मालुम हुआ कि शायद ये लोग दीक्षा के लिये फिर कोई बाधा खड़ी करें। इसलिए उन संपूर्ण विघ्नबाधाओं को दूर करने के हेतु इन्होंने आधे व्याख्यान में खड़े होकर सब संघ (साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) के समक्ष आजीवन चतुर्थ व्रत याने ब्रह्मचर्य व्रत का नियम लिया। यद्यपि वहां

इनकी सास विरोध में खड़ी हुई थीं और यह व्रत न देने के लिये पूज्य महाराज साहब से प्रार्थना भी की थी; लेकिन हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई ने अपने आत्मिक तेज से सब को पराजित कर कठोरतम व्रत का नियम ले ही लिया। इस प्रकार रतनबाई दस दिनों में सफलता की ओर दौड़ने वाली अपनी दीक्षा की भावना के मार्ग से प्रबल-बाधक बड़े-बड़े कंकर, पत्थर, कांटे वगैरह को दूर कर उस मार्ग को साफ करने में सफल हुई। इससे इनकी वह भावना सफलता की ओर सरपट दौड़ चली। फिर कोई भी विघ्नबाधा इनके मार्ग की अवरोधक न हुई। इस प्रकार उस मार्ग के साफ होजाने पर अन्य कोई भी बाधा को अवशिष्ट न देख कर हमारी पवित्रात्मा चरित्र-नायिका ने दसवें दिन देव, गुरु आदि के दर्शन और सामायिक-प्रतिक्रमण आदि सविधि करके अपने अनशन का सहर्ष पारना किया--- अनशन-भंग किया। उस दिन रतनबाई को जो हर्ष हुआ, उसका वर्णन करना हमारी लेखनी के सामर्थ्य के बाहर की बात है।

दीक्षा

हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई में दीक्षा की भावना को पैदा हुए और इस उपर्युक्त कलह को चलते हुए पांच मास व्यतीत हो चुके थे। हम ऊपर कह आये हैं कि रतनबाई को दीक्षा की भावना आश्विन सुदि चतुर्दशी की रात्रि में उत्पन्न हुई थी। इस समय फाल्गुन सुदि पूर्णिमा बीत चुकी थी। चैत्र मास का प्रारंभ था। वसंत ऋतु अपनी छटा से वृक्षों तक को पल्लवित कर उनको सुशोभित एवं सुरभित बना कर सौन्दर्य की उपासना कर रही थी। कोयलें 'कुहू-कुहू' की ध्वनि से विरहियों को अपने स्थान पर पहुंचने के लिये जल्दी मचा रही थीं। प्रकृति-देवी आनंद के साम्राज्य का शान्ति-पूर्वक अधिशासन कर रही थी। समस्त प्राणि-मंडल उस आनंद में मग्न था। भारत-भूमि के रंगमंच पर मानव-समाज होलिकोत्सव के उपलक्ष में ऐक्य एवं भ्रातृत्व का मंजुल अभिनय कर रहा था। ऐसे सुन्दर समय में हमारी चरित्र-नायिका रतनबाई का सर्वजनों के हृदयों को आनंद-सागर में प्रवाहित करदेने वाला दीक्षा-महोत्सव शुरू हुआ। चैत्र वदि प्रतिपदा से रतनबाई के बनोले फिरने आरंभ हुए।

जिस प्रकार विवाह में लग्न के पूर्व रूढ़ि के अनुसार जो विधि हुआ करती है, उसी प्रकार की विधि प्रायः दीक्षा-महोत्सव में भी होती है।

संसार में मनुष्य स्त्री से और स्त्री मनुष्य से वैषयिक सुख की आशा से विवाह करती है; इस वैराग्य-जगत् में मनुष्य दीक्षा से और स्त्री चारित्र से नित्य एवं अनंत मोक्ष के सुख की अभिलाषा से विवाह करती है।

दूसरे दृष्टि-कोण से देखिए, संसार में स्त्री-पुरुष संतति की उत्पत्ति के लिये एक सूत्र में प्रेम—में आबद्ध होते हैं, इधर वैराग्य-जगत् में नर एवं नारी, दीक्षा और चारित्र से मोक्ष-संतति की उत्पत्ति के लिए परस्पर आबद्ध होते हैं। दोनों में भेद सिर्फ इतना ही है कि अपने संसार में पुत्र उत्पन्न होकर फिर दुःखमय संसार को बढ़ाता है; इधर वैराग्य-जगत् में मोक्ष-संतान के उत्पन्न होने पर नर अपने ही स्वरूप में लीन हो जाता है, चारित्र भी उसीमें लीन हो जाता है; इनके लीन होने में मोक्ष ही तो कारण है, और इधर आगे संसार बिल्कुल नहीं बढ़ता, प्रत्युत वहाँ उसकी फाटक बंद हो जाती है। इसलिए अपने जगत् से वैराग्य-जगत् सर्वथा भिन्न–निराला है। वह दुःखमय है तो यह सुखमय है। इसीलिए तो महान् आत्माएं इसी जगत् में संचरण करती हैं, उस जगत् से एकदम संबंध-विच्छेद कर लेती हैं और मोक्ष के प्रेम में दीवानी बनी फिरा करती हैं। भगवान् महावीर की आत्मा भी इन्हींमें से एक थी, अन्यथा घर-बार छोड़कर जंगलों

में क्यों भटकती और बारह वर्ष तक कठोरतम तप के द्वारा उसकी कठिनतम साधना क्यों करती ! हमारी चरित्र-नायिका की आत्मा भी इसी प्रकार की है।

हमारी चरित्र-नायिका सुबह और शाम—दोनों वक्त जाति के और मित्र लोगों के यहां भोजन के लिये जाती थीं। रात्रि को गांव में बनोले भी फिरते थे। प्रतिदिन नये-नये वस्त्राभूषण इनको पहनाये जाते। यद्यपि रतनबाई की खुद की इस विषय में बिलकुल इच्छा न थी, इनका हृदय तो दीक्षा की ओर तीव्र-गति से जा रहा था; तथापि कौटुंबिक जनों के आत्यंतिक आग्रह से जबरन इनको सब कुछ करना पड़ता था। संक्षेप में, एक दुलहिन के समान इनके दिवस व्यतीत हो रहे थे। वैराग्ययुक्त मनुष्य या स्त्री को दूल्हा या दुलहिन शब्द से उपमित करने या संबोधित करने में हमारा उपर्युक्त पेरेग्राफ का कथन सम्यक्तया सामंजस्य एवं औचित्य स्थापित करता है। व्यवहार में भी उसी दृष्टिकोण को संमुख रख कर उन्हें वैरागी शब्द से विशेषण देकर 'वैरागि दूल्हा या वैरागी-दुलहिन' कहा जाता है।

यद्यपि वैराग्ययुक्त मनुष्य या स्त्री का इस प्रकार दूल्हा या दुलहिन के समान कुछ दिन तक रंगरेलियां एवं मौज उड़ाना उनकी उस भावना के सर्वथा विरुद्ध होने से अनुचित है। उनको तो एकांत में ईश्वर-चिंतन, वस्तुस्वभाव-चिंतन आदि के लिये मौका देकर उनकी उस भावना को और अधिक सुदृढ़

बनाने का प्रयत्न होना चाहिये। इस रूढ़ि के समर्थन में कोई भी विशेष असाधारण हेतु दृष्टिगोचर नहीं होता। विवाह, मृतभोज, नवकारसी वगैरह के समान यह भी एक द्रव्य-व्यय करने का साधन उस समय माना जाता था। आज भी कुछ अंशों में—रूढ़ि के ही परिपालन के लिये समझिए—यह माना जाता है।

कुछ लोग जैन-धर्म की प्रभावना होना ही इसका उद्देश्य बतलाते हैं। यह उद्देश्य उस जमाने में, जब कि समाज सभी दृष्टिकोण से समुन्नत था, उसके किसी भी अंग में खामी न थी और इसलिए द्रव्य-व्यय के दूसरे विशेष कारण या अन्य स्थान न थे, किसी अंश में सफल हो सकता था। लेकिन आज, जब कि समाज के सामने भयंकर आर्थिक संकट मौजूद है, देश में और समाज में करोड़ों के सामने रोटी का प्रश्न है; करोड़ों को दोनों जून भरपेट खाने को भी नहीं मिलता, देश में और समाज में करोड़ों मनुष्य अशिक्षित हैं, हमारा प्राचीन साहित्य भांडारों में पड़ा सड़ रहा है और हमारी प्राचीन संस्कृति तथा हमारा गौरव अज्ञान के प्रगाढ़ तिमिर में आच्छादित है, वह उद्देश्य सफल नहीं होसकता। जैन-धर्म की प्रभावना ही यदि हमें करना है, तो आज हम सैंकड़ों स्कूल और कॉलेजों को स्थापित करके समाज में शिक्षा का प्रचार कर, देश-देशांतरों में अपने साहित्य का, संस्कृति का एवं गौरव का प्रसार कर, नये-नये उपदेशक एवं विद्वान् तैयार कर उनके द्वारा देश-देशां-

तरों में जैन-धर्म की अभिवृद्धि कर और कला-कौशल की शिक्षा देकर समाज के सामने से रोटी का प्रश्न हल करके उससे भी अच्छी तरह उसको कर सकते हैं। समाज की एवं साहित्य की सेवा, उसकी खामियों, त्रुटियों एवं न्यूनताओं को दूर करना, उसमें भरे हुए अज्ञानतिमिर को दूर कर उसको सभी दृष्टिकोण से समुन्नत वनाना और धर्म की एवं साहित्य की अभिवृद्धि कर उनका अधिक-से-अधिक रूप में प्रचार करना समाज के प्रत्येक व्यक्ति का सर्व-प्रथम कर्तव्य है। यदि हमारा समाज ही न रहा, हमारा साहित्य ही न रहा, हमारी संस्कृति एवं गौरव ही न रहा और हमारा धर्म ही न रहा, तो हम वड़े-वड़े मन्दिरों, तीर्थों, स्थानकों, उपाश्रयों और ज्ञान-भंडारों के रहते हुए भी हमारे अस्तित्व को कैसे कायम रख सकते हैं? अपने अस्तित्व को खोकर हम इन धार्मिक स्थानों की और धार्मिक आचारों एवं व्यवहारों की रक्षा करने के लिये विलकुल उद्यत नहीं। हमारे अस्तित्व, धर्म, संस्कृति, गौरव एवं साहित्य के पीछे ही इन सवों की प्रतिष्ठा है। इसलिए सर्व-प्रथम इन्हींकी रक्षा करना आवश्यक है। आज उन्नतिशील बीसवीं शताब्दी में भी ये सव अत्यंत हीनावस्था में हैं। इसे देख कर किस सच्चे भगवान् महावीर के वंशज का हृदय दुःखाक्रांत न होगा और इनको हीनावस्था के गर्त से निकाल कर उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ करा देने के लिये प्रयत्नशील न होगा!

कुछ लोगों का कहना है कि यह बनोले वगैरह का आयोजन वैरागी या वैरागिन की वैराग्य-भावना की दृढ़ता की कसौटी है। इसमें यदि उसका हृदय आकृष्ट न हो तो समझना चाहिये कि वह सच्चा वैराग्य-युक्त है। लेकिन यह कसौटी भी कुछ लोगों की राय में पक्की जांच करने वाली नहीं; चूंकि कोई भी इस कसौटी पर आरूढ़ होकर वैराग्य की दुर्गम सीढ़ी से फिसलने पर भी अपने आत्मगौरव के रक्षार्थ ही उस पर स्थिर रहना चाहता है, अन्यथा इसके पीछे जनता के भीषण उपहास की बौछारों की भांति रहती है। दोनों ही पक्षों के युक्तायुक्त के विचार का भार हम सहृदय एवं तर्कशील पाठकों पर ही छोड़ आगे बढ़ते हैं।

रतनबाई के बनोले बीस दिन फिरे। चैत्र सुदि पंचमी को दीक्षा का मुहूर्त निकला था। उसके एक दिन पहिले से सब तैयारियां होने लगीं। रात्रि को जागरण हुआ। सुबह जल्दी उठकर अपने नित्य-नियम से निपट कर दीक्षा-स्थान की ओर जाने की तैयारियां होने लगीं। लापसी[1], चावल और मूंग की भरी हुई थाल रतनबाई के हाथ से छुआई गई। यह

---

१ लापसी, पके हुए चावल और मूंग दाल के ऊपर एक पर एक रख कर शिखरवान् मेरु पर्वत की आकृति बनाई जाती है। इसमें वैराग्य-युक्त मनुष्य अपने हाथ की दोनों अंजलियों को उसमें से भर भर अपने पासवालों को देता है। बाद में उपस्थित सभी श्रावक श्राविकाओं में यह अवशिष्ट पदार्थ बांट दिया जाता है।

रूढि तीर्थंकरों के सांवत्सरिक दान के आधार पर बनी हुई प्रतीत होती है।

बाद में पालकी में बैठकर सब मंदिरों के दर्शन करती हुई बाजे-गाजे के साथ रतनबाई दीक्षा-स्थान की ओर चलीं। यथासमय वहां पहुंच कर गुरु महाराज के समक्ष उपस्थित हुई। वहां सर्व-प्रथम नंदी-स्थापना[1] हुई। अनंतर दश-दिक्पालक देवों और नव-ग्रहों का आवाहन किया गया। बाद में नंदी-स्थापना के समक्ष यथाविधि दीक्षा की क्रियाएं आरंभ हुई।

विक्रम संवत् १९४८ शके १८१३ के चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी के दिन बारह बजने के पहिले विजय-मुहूर्त और मृगशिर नक्षत्र में रतनबाई की दीक्षा-क्रिया यथाविधि परिपूर्ण हुई। रतनबाई संसारी से संन्यासी बन गई। इनको विवेकश्रीजी महाराज साहब की, जो कि पुण्यश्रीजी महाराज साहब की शिष्या थीं और संसारावस्था में इनकी काकी थीं, शिष्या बनाया गया। रतनबाई का नामकरण इनके नाम में से 'बाई' हटाकर अवशिष्ट में श्री-शब्द संयुक्त करके 'रतनश्री' शब्द से किया गया। इनकी दीक्षा-विधि सुखसागरजी महाराज साहब के शिष्य भगवान्सागरजी महाराज साहब के हाथ से हुई। इस दीक्षा-महोत्सव में इनके श्वसुर शेरसिंहजी का भी पूर्ण सहयोग रहा

---

१ तीन बाजोटों को एक के ऊपर एक रखकर ऊपर भगवान् की प्रतिमा रखकर जो स्थापना की जाती है, उसे नंदी-स्थापना कहते हैं।

श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब । श्रीरत्नश्रीजी के गुरु—श्रीविवेकश्रीजी महाराज साहब

था। इस प्रकार रतनबाई-रत्नश्री बनकर श्रावकों के पूज्य पद पर आरूढ़ हुई। अब हम आगे इनको रत्नश्रीजी महाराज साहब के नाम से संबोधित करेंगे[1]।

दीक्षा होने के बाद उस स्थान पर नहीं ठहर कर अन्यत्र विहार कर जाने का नियम है। इसके अनुसार रत्नश्रीजी महाराज साहब भी अपने गुरु महाराज के साथ उस दिन और रात को वहीं ठहर कर दूसरे दिन लोहावट को विहार कर गये।

जब रतनबाई दीक्षा के लिये दादावाड़ी की तरफ जाने लगीं थीं; उस वक्त काका साहब बागमलजी ने इनसे कहा था— "बेटा, दीक्षा लेकर मुझे जरूर दर्शन देना, भूल न जाना"। जब दीक्षा के बाद ये विहार करके लोहावट की तरफ जा रहे थे, उस समय अपने घर की तरफ से ही निकले। यद्यपि उस समय इनको काका साहब की वह प्रार्थना स्मरण हो आई थी, लेकिन संकोच एवं लज्जा के आधिक्य के कारण ये अपने गुरु महाराज को यह बात निवेदन न कर सके और इस प्रकार उनकी अनुमति के बिना अकेले काका साहब को

---

१ यहां पर यह बात स्मरण रहे कि रतनबाई की दीक्षा-विधि इनके घर से दो-तीन फर्लांग दूर दादावाड़ी में हुई थी, और वहां जाते समय मार्ग में ये अपने ससुराल वालों से अपने अपराधों की क्षमा मांगती गई थीं, सथमलजी के भी पैरों पर गिर, उनसे क्षमा-प्रार्थना कर और इस प्रकार उनके हृदय में भी भाई बहिन के पवित्र संबंध की भावना को प्रज्वलित कराती गई थीं।

दर्शन देने के लिये न जा सके। तब काका साहब के हृदय को यह समाचार सुनने से कि रत्नश्रीजी महाराज साहब लोहावट की तरफ विहार कर गये, बड़ा कड़ा आघात पहुंचा, और भीषण रुग्णावस्था की हालत में उसको सहन न कर सकने के कारण तीसरे दिन ही याने चैत्र सुदी अष्टमी के दिन उनका देहांत होगया। बाद में जब यह समाचार लोहावट में रत्नश्रीजी महाराज साहब को मिले, तब इनके दिल को बड़ा धक्का पहुंचा और बड़ा-भारी पश्चात्ताप हुआ। आज भी इनको इस बात के स्मरण से बड़ा पश्चात्ताप एवं दुःख होने लगता है।

कुछ दिन बाद लोहावट से विहार करके महाराज साहब फिर फलोधी पधारे और वहीं अपना प्रथम चातुर्मास किया। वहां इनको एक समय स्वप्न आया कि शेरसिंहजी जावक के यहां श्रीप्रथम-तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान् की प्रतिष्ठा हुई। प्रातःकाल इन्होंने गुरुमहाराज विवेकश्रीजी और पुण्यश्रीजी महाराज साहब से अपना स्वप्न कहा। उन्होंने सब हाल शेर-सिंहजी से कहा और स्वप्नानुसार कार्य करने के लिये उन्हें उपदेश दिया। तब शेरसिंहजी मंदिर में से, जो कि जमीन के भीतर जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था, श्रीऋषभदेव भगवान् की प्रतिमा को महोत्सव-पूर्वक अपने घर पर लाये और आठ दिवस तक अठाई-महोत्सव करके नये मंदिर में, जो कि पुराने मंदिर के पास में ही बन कर तैयार था, महोत्सव-पूर्वक

श्रीऋद्धिसागरजी महाराज साहब के हाथ से प्रतिष्ठा करवाई। इस प्रकार श्रीमहाराज साहब का स्वप्न फलीभूत हुआ।

---

१ आप महामहोपाध्याय श्रीमान् क्षमाकल्याणकजी महाराज साहब की वंश-परंपरा में चतुर्थ थे। आपके गुरु श्रीमान् राजसागरजी महाराज और शिष्य प्रसिद्ध सुखसागरजी महाराज साहब थे। आपनें आबू तीर्थराज की अनेक आशातनाओं को दूर कर रक्षा की थी। अनेक भीषण उपसर्गों के प्रबल 'आक्रमणों को भी अपनी तीव्र आत्मिक एवं मंत्र-शक्ति से विजित कर आपने आबू तीर्थराज के लिये गव्हर्नमेंट ऑफ इंडिया से ग्यारह नियम प्रवृत्त करवाये हैं।

आप संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। मंत्र, तंत्र और यंत्र के तो आप अनुपम ज्ञाता थे। आपनें बहुत से मंदिरों की ऐसे-ऐसे उत्तम और शुभ मुहूर्त में प्रतिष्ठा करवाई, जिससे उनकी प्रतिदिन उन्नति होरही है। कहते हैं, उपर्युक्त प्रतिष्ठा में भी आपनें कुछ अन्न की सामग्री और नारियलों को मंत्र से अभिमंत्रित कर ग्रहों की शांति के लिये दशों दिशाओं में फेंका था। उनमें से कुछ भी वापस नहीं आया। सब लुप्त होगया। नारियल की भी सिर्फ ऊपर की काचलियें ही आईं और अंदर के गोले लापता थे। आपका स्वर्गवास संवत् १९५२ में हुआ था।

अध्ययन और बृहद्दीक्षा

हम ऊपर कह आये हैं कि हमारी चरित्र-नायिका नें वैराग्य की भावना के उदित होने पर उनके पड़ौसी श्रीपूनमचंदजी बाफना के पास पढ़ना आरंभ किया था, और वे शीघ्र ही पुस्तक बांचने लग गई थीं। बाद में दीक्षा-संबंधी कलह के बढ़ जाने पर वह अध्ययन स्थगित होगया था। अब दीक्षा होने के बाद फिर अध्ययन का प्रारंभ करना अत्यावश्यक था, क्योंकि अध्ययन एवं शिक्षा के बिना श्रावकों और जिज्ञासुओं को उपदेश तथा उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसके अलावा साधु-धर्म के ज्ञान की भी आवश्यकता रहा करती है और उसके लिये भी शिक्षा का होना जरूरी है। इसलिए महाराज साहब की शिक्षा प्रारंभ हुई। उस समय श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब के समुदाय में पाठिका—वाचनाचार्या श्रृंगारश्रीजी थीं। हमारी चरित्र-नायिका की शिक्षा एवं अध्ययन भी उन्हींके पास हुआ।

जैन-समाज में श्रावकों के अधिकांश में व्यापारी होने

---

१ दूसरे प्रकरण में देखिए।

के कारण उनकी शिक्षा व्यावहारिक दृष्टि से आवश्यक उप-योगिता पर्यंत ही होती है, हालांकि उच्च शिक्षा की उपयोगिता प्रत्येक व्यक्ति के लिये है, यह हम ऊपर के प्रकरण में कह आये हैं। साधुसमाज में प्रायः आगमों के ही सांगोपांग पढ़ने की अधिक प्रथा है। आगम सब अर्धमागधी भाषा में हैं। इनकी टीकाएं संस्कृत में हैं और अभी-अभी कुछ भाषा-टीकाएं भी बनी हैं, जो कि बहुत टूटी-फूटी अशुद्ध हिन्दी में हैं। साधु-समाज में आगमों का अध्ययन प्रायः मूल एवं हिन्दी से किसी प्रकार पूर्ण कर लिया जाता है। संस्कृत-भाषा का मार्मिक अध्ययन करके उसके दर्शन-शास्त्रों का मार्मिक पठन एवं मनन करके आगमों का अंतस्तल पर्यंत अध्ययन करने वाले बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं। जैन-दर्शन का पूर्णतया मार्मिक अध्ययन भी बहुत कम रूप में ही समाज में किया जाता है, तो अन्य दर्शनों के विषय में तो बात करने की भी जरूरत नहीं; हालांकि जैन-दर्शन के भी तार्किक दृष्टि से अध्ययन करने की अत्यंत जरूरत है। संस्कृत-भाषा का अध्ययन भी सिर्फ साधारण रूप से भाषा-समझने के ज्ञान तक ही सीमित रहता है।

इसी प्रचलित प्रथा के अनुसार हमारे महाराज साहब रत्नश्रीजी की भी शिक्षा हुई। संस्कृत का अध्ययन साधारण रूप में ही रहा। प्रधानतया आगमों का एवं शास्त्रीय आचार-

१ दूसरे प्रकरण में देखिए।

व्यवहारों का अध्ययन जोरों से चलने लगा। कुछ ही दिनों में ये उनमें सम्यक्तया दक्ष होगई।

प्रारंभ में इनकी बुद्धि कुंठित-सी थी। उसका कारण पठनाभाव एवं तज्जन्य मानसिक शक्तियों का अविकास था। जिस प्रकार शिला-शकल (सिल्ली) पर न घिसने से रेझर या चाकू में जंग लग जाता है और फलतः वह अपना कार्य करने में असमर्थ रहता है; उसी प्रकार तीक्ष्ण-बुद्धि वाला मनुष्य भी अध्ययन, विचारशीलता एवं तर्कशीलता से अपनी मानसिक शक्तियों को विकसित करने का प्रयत्न न करे तो उसकी वह तीक्ष्ण-बुद्धि भी कुंठित होने लगती है। यह सिद्धांत बालक या बालिका पर विशेष रूप से घटित होता है। यदि उन्होंनें पठनादिक से अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण करने का यत्न न किया, तो उनकी बुद्धि कुंठित रहती है। हमारी चरित्र-नायिका को भी प्रारंभिक अवस्था में कुछ भी नहीं पढ़ाया गया। यही कारण था कि उनकी बुद्धि कुंठित थी।

जिस समय हमारी चरित्र-नायिका की शिक्षा-दीक्षा एवं अध्ययन चल रहा था, उस समय उनकी सहपाठिनियें और दो-तीन साध्वियें थीं। उन सबों का अध्ययन साथ-साथ ही चलता था। शृङ्गारश्रीजी महाराज साहब एक साथ ही सबों को पाठ दिया करते थे। हमारे महाराज साहब की सहपाठिनियों की बुद्धि कुछ ठीक थी। अतः वे अपना पाठ दिन को ही जल्दी से याद कर लिया करती थीं और हमारी चरित्र-नायिका धारणा-

शक्ति के निर्बल होने के कारण जल्दी कंठस्थ करने में असमर्थ रहती थीं। इसलिए इस कमी को पूर्ण करने के लिये सब साध्वियों के सो जाने के बाद, रात्रि में एक या दो बजे के लगभग नित्य उठ जाया करतीं और अवशिष्ट पाठ उस शांति के आनंदमय समय में याद कर लिया करती थीं। जब प्रातः-काल इनकी पाठिका श्रृंगारश्रीजी इनको गत-दिवस का दिया हुआ पाठ पूछतीं, तब ये सब प्रश्नों का तत्काल यथोचित उत्तर दे दिया करतीं थीं। यह देख कर इनकी सहपाठिनियें और उपस्थित अन्य साध्वियें आश्चर्य से दांतों तले अंगुलियें दबाने लगतीं कि गत-दिवस के शाम तक तो इनको पूर्ण पाठ कंठस्थ नहीं हुआ था और आज बड़े सबेरे ही इनको वह कैसे कंठस्थ होगया! इस विषय में ये इनसे पूछ-ताछ भी करतीं, उत्तर में ये केवल मुस्किराकर रह जातीं। कुछ दिन बाद तो इनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण हो गई थी।

हमारी चरित्र-नायिका के स्वभाव में निश्चय एवं दृढ़ता विशेष रूप से विद्यमान थी। किसी भी कार्य का इन्होंने दृढ़ संकल्प कर लिया कि फिर उसमें कितनी ही बाधाएं क्यों न उपस्थित हों, ये उससे रंचमात्र भी नहीं डिगतीं। फिर तो "कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि" अर्थात् "या तो कार्य को सिद्ध करूं या शरीर को नष्ट कर दूँ" इस न्याय के अनुसार तन-मन से उसकी सिद्धि के लिये लग जातीं। यद्यपि आरंभिक दिनों में इनको अपनी धारणा-शक्ति की निर्बलता का

अनुभव होने लगा था, लेकिन इससे अध्ययन के विषय में इनका उत्साह बिलकुल कम न हुआ, प्रत्युत इस अध्ययन-निरूपित-कारण-सामग्री की कमी को ये अपने घोर परिश्रम द्वारा पूर्ण कर लेती थीं। ये रात को लगभग ग्यारह बजे सोजातीं और एक बजे के लगभग उठ जातीं। इस प्रकार रात्रि को तीन घंटे के करीब निद्रा लेतीं और इसके अलावा अपने साधुत्व के आचारों को करने के समय को छोड़ कर अवशिष्ट संपूर्ण समय अपने अध्ययन में ही लगातीं। इस घोर परिश्रम का यह फल हुआ कि कुछ ही दिनों में ये उच्च श्रेणी की छात्रा गिनी जाने लगीं, मानसिक शक्तियों के विकसित होजाने से इनकी धारणा-शक्ति बड़ी बलवती एवं बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण होगई और फलतः अपने विषयों में ये अच्छी तरह निष्णात होगईं।

हमारी चरित्र-नायिका संसारावस्था में जिस प्रकार संसारिक व्यवहारों से अनभिज्ञ थीं, उसी प्रकार दीक्षा लेने के बाद साधुत्व की अवस्था में साधुत्व के आचारों से सर्वथा अपरिचित थीं। साधुत्व की अवस्था में संवेगी लोगों में वस्त्रों के धोने की प्रथा है। कम-से-कम पानी (गरम करके ठंडे किये हुए) में वस्त्र अच्छी तरह से धोलिये जाते हैं। दो-तीन सेर पानी में कूटने और पछांटने के बिना ही आठ-दस वस्त्र धोलेना और उनमें का सम्पूर्ण मैल निकाल उनको बिलकुल स्वच्छ कर देना भी एक कला है। इस कला का ज्ञान हर एक को नहीं रहता। हमारी चरित्र-नायिका भी इस कला से सर्वथा अनभिज्ञ थीं। इस कारण साधुत्व की

प्रारंभिक अवस्था में इनको बड़ी कठिनाइयां उठाना पड़ीं, क्योंकि बड़ों के वस्त्रों को धोना छोटों का आवश्यक कर्तव्य समझा जाता है। यदि कारण-विशेष से बड़ों के वस्त्र किसी अन्य ने धोदिये, तो भी अपने खुद के वस्त्र तो खुद को ही धोना पड़ता है, क्योंकि छोटे शिष्यों के शिष्य तो रहते ही नहीं, जिससे कि वे उन्होंके वस्त्र धोकर दे दें। हमारी चरित्र-नायिका भी सब से छोटी थीं, उस वक्त उनके कोई शिष्य न था। इसलिए कम-से-कम खुद के वस्त्र धोने का भार तो इन्हींके ऊपर था और वस्त्र धोने की कला को ये बिल्कुल न जानती थीं।

दूसरे इनके समुदाय में प्रायः यह नियम था कि नव-दीक्षित शिष्य अपने गुरु के साथ, जिसका कि दीक्षा के समय वह शिष्य बनाया जाता है, विशेष नहीं रहता। इस नियम के अनुसार रत्नश्रीजी महाराज साहब भी अपने गुरु विवेकश्रीजी महाराज साहब के साथ विहार न करती थीं। विवेकश्रीजी महाराज साहब यदि इनके साथ होतीं तो सांसारिक स्नेह के नाते ही इनके वस्त्र धो देतीं, लेकिन वे इनसे दूर थीं। इसलिए इनको कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

रत्नश्रीजी अपने गुरुमहाराज से दीक्षा के बाद से ही वियुक्त होगई थीं और उस वियुक्तता को एक वर्ष के लगभग होगया था। इतने समय में इनके पास दो-तीन मलिन वस्त्रों की जोड़ियें इकट्ठी होगईं। एक साल के बाद जब ये अपने गुरु-महाराज से मिलीं, तब उन मलिन वस्त्रों की गंठड़ी उनको

दी। उस अपूर्व उपहार को देख कर उपस्थित सभी साध्वियें इनको हंसने लगीं कि साल-भर बाद गुरु के मिलने पर बड़ी अच्छी भेंट गुरु को दीगई है! बाद में विवेकश्रीजी महाराज साहब नें इनको वस्त्र धोकर दिये और वस्त्र धोने की कला की शिक्षा दी। कुछ समय के बाद ये उसमें अच्छी तरह अभिज्ञ होगईं। इस प्रकार धीरे-धीरे ये कुछ काल में साधुत्व के संपूर्ण व्यवहारों में सुदक्ष होगईं।

इसके बाद इनकी इच्छा योग के शिक्षण की तरफ दौड़ी। लेकिन अनुभवी एवं योग्य शिक्षक के न मिलने पर वह इच्छा कार्य में परिणत न होसकी। कुछ वर्ष बाद इनका चातुर्मास जयपुर में हुआ। उस समय शिवजीरामजी महाराज साहब का भी चातुर्मास वहीं था। वे उत्कृष्ट रूपसे योग के ज्ञाता एवं अनुभवी थे। हमारी चरित्र-नायिका नें उनसे परिचय किया और उनको योग के विषय में अपना गुरु बनाया। उनके पास रत्नश्रीजी की योग-शिक्षा सम्यग्रूप से होने लगी। शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ आनुभविक ज्ञान भी संपादन किया जाने लगा।

संसार में सब से अधिक चंचल एवं दुर्दम्य यदि कोई वस्तु है, तो वह मन है। जितना ही अधिक अपन उसको स्थिर करने की चेष्टा करें और उसका दमन करने का प्रयत्न करें, उतना ही अधिक वह चंचल एवं दुर्दम्य बनता जाता है। उसकी गति का वेग वायु से भी कई गुना ज्यादा है। ऐसे

शक्तिशाली मन को वश में करने, स्थिर बनाने एवं दमन करने के लिये जो रामबाण उपाय है—अचूक औषध है, उसीका नाम योग है। महामुनि पतंजलि ने योग-दर्शन में उसकी परिभाषा करते हुए यही बतलाया है कि 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' अर्थात् चित्त की वृत्तियों को—मन के व्यापारों को रोकना ही योग है। अन्य शब्दों में कहें तो समाधि का नाम ही योग है। इस योग की सिद्धि के लिये योग-शास्त्र में इसके कारणीभूत आठ अंग बतलाये हैं। जैसा कि योगसूत्र है—'*यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि*'—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योग के अंग हैं। योग शब्द का पर्याय समाधि इस समाधि से भिन्न है। इसलिए अंग और अंगी का ऐक्यरूप दोष नहीं आसकता। इनका अर्थ प्रायः प्रसिद्ध है। अतः ग्रन्थगौरव के भय से और अप्राकरणिक होने की आशंका से इनकी व्याख्या यहां नहीं की जासकती। जिज्ञासुओं को योग-दर्शन और योग-शास्त्र आदि ग्रंथों से इनका विशेष ज्ञान संपादन करना चाहिये।

---

१ यह पातंजल-दर्शन में प्रथम समाधिपाद का द्वितीय सूत्र है। 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इस उमास्वाति के सूत्र के अनुसार योग की परिभाषा जैनदर्शन की दृष्टि से पारिभाषिक है।

२ यह पातंजल-दर्शन में द्वितीय साधनपाद का उनतीसवां सूत्र है।

हमारी चरित्र-नायिका ने इन अंगों सहित योग का शास्त्रीय एवं आनुभविक ज्ञान अच्छी तरह से प्राप्त किया। इनको इन योगांगों के विषय में अच्छी सिद्धि प्राप्त है। अभी बाँसठ वर्ष की उम्र में भी ये रात्रि को एक या दो बजे उठ खड़ी होती हैं और ध्यान में निमग्न होजाती हैं। यह योग-शिक्षा विक्रम संवत् १९६१ में शुरू हुई थी और उसका अभ्यास अभी तक चालू है।

हमारी चरित्र-नायिका के दीक्षा-महोत्सव का वर्णन हम ऊपर कर आये हैं। वह इनकी छोटी दीक्षा थी। बड़ी दीक्षा तो उस दीक्षा के लगभग तीन मास बाद हुई थी। किसी के भी—चाहे वह पुरुष हो, अथवा स्त्री हो, दीक्षा लेने पर, जब उसके गुरु उसको योग्य एवं सत्पात्र समझ लेते हैं, तब उसकी बड़ी दीक्षा हुआ करती है और तभी से वह अधिक निर्मल चारित्र वाला और दृढरूप से साधुत्व एवं पंचमहाव्रत के कठोर पथ का पथिक बन जाता है। बड़ी दीक्षा होने के बाद ही उसका सभी साधु या साध्वियों के साथ आहार-पानी शुरू होता है, उसके पहले उसको अपना आहार-पानी अलग ही करना पड़ता है। उसको अकेले अन्य के लिये आहार लाने का अधिकार नहीं रहता; हां, खुद के लिये वह लासकता है। प्रतिक्रमण में भी वह छह आवश्यक तक की क्रियाएं अन्य को नहीं करवा सकता। संक्षेप में, इस प्रकार साधुत्व के क्षेत्र में उच्च क्रियाएं करने एवं करवाने का वह अधिकारी नहीं रहता।

जैन पारिभाषिक शब्दों में विचार करिये, दीक्षा, संयम और चारित्र ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। संसार के कारणीभूत कर्मों की बंधन-कारक क्रियाओं का निरोध कर आत्मिक शुद्ध-दशा में स्थिर होने के लिये जो सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रयत्न किया जाता है, उसको चारित्र कहते हैं। आत्मिक-परिणाम-शुद्धि के तरतमभाव की अपेक्षा से चारित्र के पांच प्रकार किये गये हैं, सामायिक, छेदोपस्थाप्य, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात। हमको यहां पर कहे गये दो चारित्रों से ही मतलब है। इसलिए उनके ही विषय में यहां कुछ विवरण किया जाता है। अवशिष्ट का तात्पर्य जिज्ञासुगण तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथों से ग्रहण कर सकते हैं।

सम-भाव—राग-द्वेष से विरहित आत्मिक अध्यवसाय में रहने के लिये जो अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता है, उसको सामायिक-चारित्र कहते हैं। अन्य शब्दों में—थोड़े समय के लिये या समस्त जीवन के लिये जो पहली वक्त दीक्षा

---

१ जिसमें खास विशिष्ट प्रकार से तपःप्रधान आचार पालने में आता है, उसका नाम परिहारविशुद्धि चारित्र है; जिसमें क्रोध आदि कषाय तो उदित होते नहीं, केवल लोभ का अंश अत्यंत सूक्ष्म रूप से रहता है, वह सूक्ष्म संपराय नामक चारित्र है और जिसमें कोई भी कषाय सर्वथा उदित नहीं होते, उसका नाम यथाख्यात अर्थात् वीतराग-चारित्र है। विशेष विवरण के लिये कर्मग्रंथ, तत्वार्थसूत्र और उसकी टीकाएं वगैरह देखनी चाहिये।

लेने में आती है, उसका नाम सामायिक है। छेदोपस्थाप्य आदि बाकी के चारों चारित्र यद्यपि सामायिक-रूप हैं, तथापि कुछ आचार एवं गुण की विशेषता के कारण उनको सामायिक से विभक्त किया गया है।

प्रथम दीक्षा लेने के बाद विशिष्ट श्रुत[1] का अभ्यास करके विशेष शुद्धि के लिये जो जीवन-पर्यन्त की फिर से दीक्षा लेने में आती है, उसको, और उसी प्रकार प्रथम ली हुई दीक्षा में किसी प्रकार की दोषापत्ति आने से उसका छेद[2] कर फिर नये रूप से दीक्षा का जो आरोपण करने में आता है, उसको छेदोपस्थाप्य कहते हैं।

इन्हीं दोनों चारित्रों का नाम क्रम से छोटी दीक्षा और बड़ी दीक्षा है।

हमारी चरित्र-नायिका के साधुत्व के आचार एवं व्यवहार इनके गुरु महाराज के उपदेश के बिलकुल अनुसार ही होते थे और इनकी साधुत्व-संबंधी आचारों के यथाविधि परिपालन करने की तीव्रतम लगन थी। इसलिए अल्पकाल में ही इनके गुरु श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब इनसे बहुत ही संतुष्ट हुए और फलतः उन्होंनें इनको सत्पात्र समझ कर शीघ्र ही इनकी बड़ी दीक्षा का उत्सव यथाविधि परिपूर्ण करने का निश्चय किया। इसके लिये उसी वर्ष, जिस वर्ष इनकी छोटी दीक्षा हुई थी,

---

१ शास्त्र।

२ नाश, पृथक्करण।

(अर्थात् विक्रम संवत् १९४८) आषाढ़ वदि बारस मंगलवार का दिन नियत किया गया।

जब बड़ी दीक्षा होने लगती है, तब उसके पहले एक महिने तक आयंबिल[1] और नीवि[2] का तप तथा प्रतिदिन सौ 'लोगस्स[3]' का काउस्सग्ग करना पड़ता है और प्रतिदिन ही बीस माला 'नवकार-मंत्र' की गिनना पड़ती है। यह बड़ी दीक्षा के पूर्व-काल की विधि है। इसी विधि के अनुसार रत्नश्रीजी महाराज साहब नें भी एक मास तक सब क्रियाएं योग्य-रूप से कीं। बाद में इनकी बड़ी दीक्षा यथाविधि एवं बड़े महोत्सवपूर्वक संपन्न हुई। तभी से ये साधुत्व के क्षेत्र में उच्च क्रियाएं करने एवं करवाने के अधिकार से युक्त हुई। इस प्रकार दूसरे शब्दो में—इन्होंने छेदोपस्थाप्य चारित्र स्वीकार किया।

---

१ आयंबिल उस तप का नाम है, जिसमें नमक, मिर्च वगैरह मसालों और घृत आदि स्निग्ध द्रव्यों से रहित खास कर एक ही अन्न एक ही समय खाया जाता है और उष्ण-जल के सिवाय समग्र पेय पदार्थों का त्याग किया जाता है।

२ नीवि भी एक तप है, जिसमें एक ही वक्त छाछ के साथ सिर्फ रूखी रोटी खाई जाती है।

३ 'लोगस्स' एक पाठ है, जो प्रतिक्रमण सूत्र में मिलता है।

४ काउस्सग शब्द कायोत्सर्ग का अपभ्रंश है। कुछ समय तक काया का उत्सर्ग कर सिर्फ ध्यान में ही स्थित रहने को काउस्सग कहते हैं।

आदर्श-साध्वी रत्नश्री

उत्तर-खण्ड

उपदेश और धर्मप्रचार
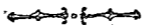
अभी तक हम अपनी प्रकृत चरित्र-नायिका रत्नश्रीजी के दीक्षांत जीवन का वर्णन कर चुके हैं। यहां तक इनके जीवन का पूर्वार्ध चल रहा था। अब वह समाप्त होचुका है। अब ये साधुत्व के पथ की पथिक बन गई हैं। उस पथ की ओर अग्रसर होते हुए मार्ग में स्थान-स्थान पर इन्होंने अपने उपदेशों से एवं आत्मिक और चारित्र-संबंधी बल से जो-जो धर्म-प्रचारादि कार्य कर दिखाये हैं, उन्हीं सबों का वर्णन अब आगे उत्तरभाग के प्रकरणों में किया जायगा। दीक्षा के बाद इनके जीवन का प्रवाह धर्म एवं संघ की सेवा के नये मार्ग की ओर अग्रसर हुआ। इसलिए हमने इनके आगे के जीवन को उत्तरकालिक जीवन माना है और इसीलिए प्रकृत पुस्तक का उत्तर खंड यहां से आरंभ करते हैं। इसके प्रथम प्रकरण में इनके उपदेश और धर्मप्रचार के विषय में हमें चर्चा करना है।

ऐसे तो उपदेश की अनेक शैलियें जगत् में दिखाई देती हैं, लेकिन संक्षेप में वे तीन प्रकार की हैं। अन्य शब्दों

में—हमें उपदेशक तीन प्रकार के उपलब्ध होते हैं। एक तो वे, जो दो-तीन घंटे तक धारा-प्रवाह रूप से बोलते हैं, किन्तु उनका भाषण समाप्त होने पर आप जनता से पूछिये कि वह उस भाषण को क्या समझी है, वक्ता महोदय ने इतने समय में क्या प्रतिपादन किया है, तो इसका उत्तर आपको संतोषजनक नहीं मिलेगा। इसका कारण यह है कि उनकी शैली दूषित है। वह वक्तृत्व-कला के नियमों से रहित, अव्यवस्थित, विशृंखल, अतएव रमणीयता से रहित है। दूसरे, उसमें वक्ता महाशय की वाणी और आत्मा का सामंजस्य नहीं है। उनके वे शब्द उनकी आत्मा के अंतस्तल से नहीं निकले हैं। इसीलिए दो-तीन घंटे तक लगातार बोलने पर भी जनता उनसे प्रभावित नहीं होती, प्रत्युत ऊब उठती है। ऐसी ही शैली के विषय में संस्कृत-साहित्य के प्रकांड एवं प्रसिद्ध विद्वान् महाकवि माघ ने यह कहा है—

'बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते;
अनुज्झितार्थसंबंधः प्रबन्धो दुरुदाहरः।'

अर्थात् अपनी इच्छा से फुटकर रूप में यथेष्ट बोला जा सकता है, लेकिन अर्थ-संबन्ध को न छोड़ते हुए कहा गया प्रबंध मुश्किल से उपलब्ध होता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकरण की एवं वक्तृत्व-कला के नियमों की अवहेलना करने के कारण उस भाषण का अर्थ-ग्रहण ठीक-ठीक एवं शीघ्रता से हो जाना मुश्किल है। फलतः अर्थनिष्ठ प्रसाद गुण उसमें नहीं मिलता।

दूसरे उपदेशक वे हैं, जो वक्तृत्व-कला के नियमों की रत्ती-भर भी अवहेलना नहीं करते, जिनके भाषण में शब्दों के साथ आत्मा एवं मन का भी पूर्ण सामंजस्य रहता है और जिनका भाषण स्थान-स्थान पर कवित्व की कमनीय कांति से सजा हुआ रहता है। इसलिए वह भाषण आकर्षक, प्रभावशाली, रमणीयता—चमत्कार से ओत-प्रोत एवं अर्थ-ग्रहण में सौकर्य रखने वाला होता है। ऐसा उपदेशक अल्पकाल में ही जनता को प्रभावित एवं उसके हृदय को पूर्ण रूप से अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है। वह थोड़े ही समय में जनता को मंत्र-मुग्ध-सी कर देता है और उसके हृदय में अपने लिये पूर्ण-स्थान प्राप्त कर लेता है। उसके भाषण के समाप्त होते ही जनता का हृदय आल्हाद से परिपूरित हो जाता है और वह 'वाह-वाह' की ध्वनि जोरों से करने लगती है। इन सब का कारण उसकी निर्दुष्ट, कवित्व से ओत-प्रोत, रमणीयता से अलंकृत, प्रसाद गुण से सुशोभित—अतएव आकर्षक एवं मनोमोहक शैली है।

तीसरे उपदेशक वे हैं, जो गंभीरार्थक शब्द बोलते हैं। थोड़े-से शब्दों में वे बहुत-सा अर्थ समझा देते हैं। उनके शब्दों के साथ उनकी आत्मा एवं मन का पूर्ण सामंजस्य—ऐक्य रहता है। उनके वे शब्द उनकी आत्मा की गहराई से निकले रहते हैं। इसलिए श्रोताओं के हृदयों में उतनी ही गहराई पर असर डालते हैं। वक्तृत्व-कला के नियमों का परिपालन तो उन में रहता ही है, इसलिए उनका भाषण अत्यंत प्रभावशाली,

आकर्षक एवं आल्हादक रहता है। इस तीसरे प्रकार के दो भेद किये जा सकते हैं। एक में उपर्युक्त गुणों के सिवाय काव्य का मधुर मद्य रहता है, कविता देवी के कमनीय, मंजुल एवं रूपवान् कलेवर के पुट से चमत्कार का अधिशासन रहता है और फलतः प्रत्येक सहृदय श्रोता को मस्त एवं ब्रह्मानंद के सहोदर आनंद से उन्मत्त कर देने की शक्ति रहती है। दूसरे में यह बात नहीं पाई जाती, यदि पाई भी जाती है तो बहुत कम अंश में।

उपर्युक्त इन तीनों शैलियों को क्रमशः अधम, मध्यम एवं उत्तम माना गया है। तीसरी शैली के द्वितीय भेद के उदाहरण में सूत्रात्मक उपदेश देने वाले प्राचीन आचार्यों एवं ऋषि-महर्षियों और आधुनिक युग के महर्षि महात्मा गांधी को रख सकते हैं। प्रथम भेद के उदाहरण में महाकवि विहारी एवं तत्सदृश कवियों और विद्वानों को ले सकते हैं। द्वितीय प्रकार की शैली साहित्यिक विद्वानों में पाई जाती है। इसके भी दो भेद करके प्रथम भेद की कक्षा में साहित्यिक विद्वानों को और कवित्व की मनोहर छटा से रहित दूसरे भेद में अन्य विद्वानों को ग्रहण कर सकते हैं। शैली का प्रथम प्रकार तो बहुत जगह पाया जाता है।

हमारी चरित्र-नायिका रत्नश्रीजी की उपदेश-शैली तीसरे प्रकार के दूसरे भेद के अनुसार है। ये थोड़े ही शब्दों में बहुत-सा अर्थ प्रतिपादन कर देती हैं। इनके शब्दों के पीछे आत्मिक

एवं व्यक्तित्व की महत्ता, प्रभाव और तेज़ विद्यमान रहता है। इनके शब्दों के साथ आत्मिक ऐक्य व सामंजस्य पूर्णतया वर्तमान रहता है। ये "परोपदेशे पाण्डित्यम्" की लोकोक्ति से सर्वथा प्रतिकूल दिशा में रहती हैं। इसलिए इनका थोड़ा-सा भाषण भी लोगों के हृदयों को बलात् अपनी ओर खींच लेता है। श्रोता के ऊपर इनकी छाप अवश्य गिरती है। यह कई वक्त देखा गया है। यही एक इनके धर्मप्रचार की सफलता का कारण है।

यद्यपि इनकी भाषा मारवाड़ी है, और इसलिए नये दर्शक को आपाततः विशेष रूपसे इनका महत्त्व दृष्टि-गोचर नहीं होता, लेकिन गुण-ग्रहण की दृष्टि से और "उत्तिविसेसो कव्वं भासा जा होइ सा होई"[१] इस महाकवि राजशेखर की उक्ति के अनुसार भाषा के भाजन का खयाल न करते हुए उसमें संनिहित विचारों को ही दृष्टि में रखकर विचार करने से इनका उच्च व्यक्तित्व, प्रभाव एवं तेज़ देखने को मिल जाता है।

सज्जनवृन्द! इस प्रकार इनकी उपदेश-प्रणाली के ऊपर विचार करके अब हम इनके धर्म-प्रचार पर दृष्टि डालते हैं।

एक समय लोहावट से ओसियाजी की यात्रा करती हुई हमारी चरित्र-नायिका रत्नश्रीजी तींवरी नामक ग्राम की तरफ आरही थीं। मार्ग में इनके संसारावस्था के गुरु श्रीयुत

---

१ "उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवतु सा भवतु"—अर्थात् उक्तिविशेष का ही नाम काव्य है, भाषा चाहे जो हो, उसका विचार नहीं।

पूनमचंदजी बाफना, जिनका नाम इस समय—दीक्षा लेने के बाद, श्रीकीर्तिसागरजी था, मिले। उनके पूर्वकालिक उपकार को स्मरण कर उनकी आज्ञा से ये मार्ग में से ही लौट पड़ीं और उनके साथ फिर ओसियाजी आईं। वहां उनके दर्शन एवं उनकी यथासंभव वैयावृत्य—सेवा करके फिर तीवरी आईं।

पाठकगण ! प्राचीन समय में विद्यादाता गुरुओं का बड़ा सन्मान होता था। विद्यार्थीगण बहुत विनीत हुआ करते थे, अपने गुरु को श्रद्धा की भावना से ओत-प्रोत पूज्य-दृष्टि से देखते थे और अवसर पाने पर उनकी यथाशक्ति सेवा करना कभी न चूकते थे। उपकार की स्मृति सर्वदा रखने के कारण विद्यार्थियों का हृदय सदा कृतज्ञता की भावना से आर्द्र रहता था। यही हमारी प्राचीन आर्यावर्त की सभ्यता और आर्य-संस्कृति का गौरव था। आज विद्यार्थीगण उस आदर्श को, उस आर्य-संस्कृति के गौरव को और प्राचीन आर्य-सभ्यता को भूल गये हैं। यह आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का दोष है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति में प्राचीन आर्य-संस्कृति, आर्य-सभ्यता एवं उच्च आदर्शों की शिक्षा देने के लिये कोई स्थान नहीं, उलटे पाश्चात्य-संस्कृति की भावना की पुट उसमें रहती है। यही कारण है कि आज हमारे विद्यार्थीगण प्राचीन आदर्शों एवं संस्कृति को भूलकर पाश्चात्य-संस्कृति का अनुसरण करने लगे हैं। आज स्कूलों और कॉलेजों में जो उच्छृंखलता विद्यार्थियों में दृष्टिगोचर होती है, उसका भी यही कारण है। रत्नश्रीजी महाराज साहब उन प्राचीन आदर्शों को

जानती थीं। इनकी शिक्षा उसीके आधार पर हुई थी। इसीलिए ये उन आदर्शों की भावना के खयाल से मार्ग में अपने पूर्व-कालिक अक्षरदाता गुरु को देख कर वहीं से उनके साथ वापिस लौट पड़ीं और फिर ओसियाजी आकर उनकी यथाशक्ति सेवा की। सेवा के अवसर को संमुख देख कर उसे हाथ से न जाने दिया।

तीवरी में आकर रत्नश्रीजी ने वहां अधर्म का व्यापक अधिशासन देखा। लोग अपने श्रावकों के धर्म और कर्तव्य को सर्वथा भूल गये थे। पारस्परिक-सांप्रदायिक द्वेष एवं कलह बहुत ज्यादा फैला हुआ था। मंदिरों की आत्यंतिक दुर्व्यवस्था और आशातना होरही थी। मंदिरों में मनों से धूलि का साम्राज्य जमा हुआ था। वर्षों से उनकी सफाई बंद थी। पूजा के लिये जो पुजारी नियुक्त थे, वे आकर प्रतिमाजी को कुछ पानी के छींटे डाल कर प्रक्षालन का कार्य समाप्त करते थे और बाद में केसर-चंदन के कुछ छींटे डाल कर पूजन का कर्म पूर्ण करते थे। इस प्रकार उनकी पूजा-विधि समाप्त होती थी। संक्षेप में, मंदिरों की दशा बड़ी शोचनीय थी। पूजा का ढोंग-मात्र रचा जाता था। अन्य शब्दों में—पूजा-विधि का मृत कलेवर बचा था, आत्मा चली गई थी। इतने पर भी श्रावक लोग कभी भी निरीक्षण न करते थे। यह तो हुई धार्मिक-स्थानों की बात। अब आतिथ्य पर दृष्टि डालिए।

जब रत्नश्रीजी महाराज साहब वहां पधारे, इनको आहार एवं पानी संबंधी बड़े परीषह सहन करने पड़े। इनको उष्ण-जल

और प्रासुक—शुद्ध आहार न मिलता था। बहुत-से श्रावक लोग तो इनको आहार एवं पानी को लेने के लिये आते हुए देखकर उनको अन्य-वस्तुओं के संपर्क आदि से अशुद्ध और सदोष—पारिभाषिक शब्दों में—असुस्ता कर देते थे, तथा उन सामग्रियों के रहते हुए भी नाहीं कर देते थे। इनका कारण वहां फैलाया हुआ सांप्रदायिकता का भयंकर ज़हर था।

उस वक्त और आधुनिक बुद्धिवाद के युग में भी जैन धर्म में सांप्रदायिकता का ज़हर पूर्ण रूप से फैला हुआ है। आज भी एक संप्रदाय के लोग दूसरे संप्रदाय के व्यक्तियों एवं साधुओं को पापी, मिथ्यात्वी और अनाचारी समझते हैं। अन्य संप्रदाय के साधु-मुनिराजों को आहार देना भी पाप एवं मिथ्या-ज्ञान समझा जाता है। यह अंध-श्रद्धा यहां तक बढ़ी हुई है कि व्यवहार में एक संप्रदाय के व्यक्ति अन्य संप्रदाय में कन्या-दान करना भी गर्ह्य समझते हैं। यह ज़हर आज आत्यंतिक रूप से जैन-समाज में व्याप्त है।

यद्यपि कुछ लोग उदार विचार के और विशाल हृदय के हैं, लेकिन नगारे की आवाज में तूती की आवाज के समान उनकी आवाज उन लोगों के कोलाहल में श्रवण-गोचर नहीं होती। ऐसे उदार-व्यक्तियों को—लिखते हुए हृदय कंपित होने लगता है और लेखनी थर-थर धूजने लगती है कि—संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। उन लोगों को सोचना चाहिये कि अपने सिद्धान्त एवं तत्त्व क्या हैं और वे सब किस दृष्टि पर अवलंबित

हैं ! यदि उस दृष्टि का—स्याद्वाद-दृष्टि का वे लोग अवलंबन लें और उस पर गंभीर विचार कर अपने जीवन में, अपने व्यवहार में और अपने आचार-कर्मों में उसे उतारने का प्रयत्न करें, तो मैं समझता हूं, यह सांप्रदायिकता का जहर स्वयं ही अवलुप्त होजाए। हम लोगों के उस दृष्टि, उस सिद्धान्त या जैन-धर्म के मूल से च्युत होने के कारण ही इस जहर ने अपना साम्राज्य समाज में स्थापित कर रखा है। हमें समझना चाहिये कि हमारे प्रकांड-विद्वान् पूर्वाचार्यों ने एवं सर्वज्ञ तीर्थकरों ने जगत् में प्रसिद्ध दर्शनों के एकांतवादों को—अन्य शब्दों में—नयरूप ऐकांतिक दृष्टियों को अपूर्ण समझ कर उनके समन्वय की दृष्टि से जिस अनेकांत-दृष्टि को जन्म दिया है, उसमें उनकी संगठन एवं ऐक्य की कितनी उच्च भावना संनिहित है और उसमें मनुष्य को पूर्णता की ओर अग्रसर करने की कितनी शक्ति विद्यमान है। यदि कोई उस उच्च एवं महती अनेकांत दृष्टि को, जो कि नयों की समन्वय एवं एकत्रीकरण रूप है और जैन-धर्म, जैन-सिद्धांतों एवं जैन-तत्त्वों को—अन्य शब्दों में—जैन-धर्म के उच्च प्रासाद की मूलभूत आधार-शिला है, त्याग दे, तो क्या वह जैन होने का अधिकारी हो सकता है ? नहीं। आज हमारे समाज की भी यही दशा है। उसने अनेकांत-दृष्टि को छोड़ कर फिर से ऐकांतिक-दृष्टि-रूप नय-वादों का आश्रय लिया है और फिर भी वह जैनत्व के अधिकारी होने का दावा रखता है, यह बड़े आश्चर्य, लज्जा एवं दुःख की बात है। आज

समाज के प्रमुख व्यक्तियों को और उनके अधिशासकों को चाहिये कि इस उन्नति-शील युग में वे लोग फिर से भगवान् महावीर की उपदिष्ट अनेकांत-दृष्टि को वास्तविक रूप में समझ कर और उसे ग्रहण करके नय-वादों का वहिष्कार करें, तथा इस प्रकार प्रतिदिन अवनति के गर्त में गिरने वाले जैन-समाज एवं जैन-धर्म को फिर से उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ करने के लिये जी-जान से प्रयत्न करें। आधुनिक काल में उन लोगों का यह आवश्यक कर्तव्य होजाता है कि वे अपनी सांप्रदायिकता में लगी हुई शक्तियों का संगठन एवं उन्नति के प्रयत्न करने में सदुपयोग करें। अस्तु।

इस प्रकार रत्नश्रीजी नें कठिनतम परिस्थिति में भी अपना धार्मिक प्रचार करना शुरू किया। आहार-पानी के अभाव के परीषहों का कुछ भी विचार न करते हुए ये सुधार के लिये प्रयत्न करने लगीं। प्रारंभ में न तो कोई मनुष्य इनके पास आता था और न कोई उपदेश-श्रवण की अभिलाषा रखता था। प्रारंभ के दिनों में इनको आहार-पानी न मिलता था, तो ये छाछ ही ले आतीं और उसीसे आहार और पानी—दोनों की आवश्यकता को पूर्ण कर लेती थीं। इस प्रकार छाछ पी-पी करके और आहार-पानी के कठोरतम उपसर्गों को सहन करके भी ये वहां ढाई महिने ठहरीं। प्रथम जबरन और वड़े आग्रह से दो-चार श्रावकों को बुलवा कर उनको उनके कर्तव्य एवं धर्म का प्रतिवोध कराया। इस प्रकार धीरे-धीरे ढाई मास में

अनेक श्रावकों को और विशेषतः युवकों को श्रावक-धर्म-परायण बनाया। उनको आतिथ्य का उपदेश दिया। मंदिरों की आशा-तना दूर करवाई और उनकी दुर्व्यवस्था को हटा कर सुव्यवस्था का प्रबंध करवाया। मंदिरों की प्रतिदिन सफाई होने लगी और पूजा यथाविधि होने लगी। ढाई मास में तीवरी के श्रावक इनके परम-भक्त बन गये। इनने वहां पर व्याप्त सांप्रदायिकता को नष्ट किया और संगठन के एक सूत्र में सब को बांध दिया।

ढाई मास बाद रत्नश्रीजी वहां से विहार कर अपने गुरु श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब के पास गईं, चूंकि चातुर्मास का समय निकट आ पहुंचा था, और पास में रहने के कारण उनके दर्शन एवं अनुमति के बिना अन्यत्र कहीं पर भी चातु-र्मास करना अनुचित था।

जब ये अपने गुरु महाराज के पास पहुंची, उस समय तीवरी के कुछ श्रावक भी इनके तीवरी-चातुर्मास की विनति करने के लिये वहां आ पहुंचे। जब पुण्यश्रीजी महाराज साहब नें उनको इसके लिये नाहीं की, तब उनमें से एक-दो श्रावकों के हृदय पर तो इतना गहरा आघात हुआ कि वे उसी क्षण मूर्च्छित होकर गिर पड़े। इससे उनका सिर फट गया और लहू की धारा बह चली। इस प्रकार उनकी रत्नश्रीजी की तरफ परम-भक्ति देख कर गुरु महाराज का हृदय आर्द्र होगया और इनके तीवरी-चातुर्मास के लिये उन्होंनें सहर्ष अनुमति दे दी; हालांकि श्रीसोहनश्रीजी महाराज साहब नें, जो कि गुरु महाराज

के पास ही विद्यमान थे; तीवरी के कुक्षेत्र होने के और इस प्रकार वहां आहार-पानी के परीषहों की संभावना होने के कारण इनके वहां चातुर्मास होने के लिये बहुत विरोध किया था।

पूज्य गुरु महाराज की अनुमति मिल जाने पर रत्नश्रीजी महाराज साहब वहां से विहार कर, वहां से कुछ दूर पर जंगल में विद्यमान एक मंदिर में एक दिन और रात ठहरे। तीवरी के श्रावक भी उस समय इनके साथ ही थे। रात्रि में उनको यह विचार आया कि शायद रत्नश्रीजी महाराज साहब के विचार बदल जायँ, या श्रीसोहनश्रीजी महाराज साहब के कुछ कहने या आग्रह करने पर श्रीगुरु महाराज वहां से वापिस लौटने के लिये संदेश भेज दें। यद्यपि यह उनका विचार अनुचित और निष्कारण था, क्योंकि महापुरुष 'प्राण जाहिं पर वचन न जाहीं' इस सिद्धान्त के कट्टर पालक रहा करते हैं, लेकिन उनको चित्त के सशंक रहने के कारण यह विचार न सूझ सका। अतः उनको इस बात का बड़ा भय मालुम हुआ कि हमारी चरित्र-नायिका के तीवरी जाने में कोई बाधा न खड़ी हो जाए। इसलिए उनमें से कुछ श्रावक रात्रि को ही इनके सोजाने पर इनके और इनके साथ की अन्य साध्वियों के सब सामान चौर की भांति चुपचाप उठा कर लेगये और आगे दो-तीन माइल दूर पर के एक गांव में ठहरे। जब प्रातःकाल रत्नश्रीजी नें अपने और अपने साथ वाली अन्य साध्वियों के सामान को न पाया तो ये बड़े

असमंजस में पड़े और किंकर्तव्य मूढ होगये। विना सामान के विहार भी कैसे किया जाय, इसलिए विहार में देर होने लगी। तब उन उपस्थित श्रावकों ने इनसे प्रार्थना की— 'आप लोग विहार करें, आपका सामान रास्ते में दो-तीन माइल पर मिल जायगा।' यह सुन कर महाराज साहब ने 'इन्हीं लोगों का यह कर्म है'— ऐसा समझ कर वहां से विहार किया। आगे के गांव में इनको अपना सब सामान मिल गया। क्रम से विहार करते हुए ये फिर तींवरी पहुंचे। सब श्रावक एवं श्राविकाएं इनके आतिथ्य के लिये सामने आईं और इनका बाजे-गाजे के साथ बड़ी धूम-धाम से उन्होंनें नगर-प्रवेश करवाया। चातुर्मास में इन्होंनें वहां जैन-धर्म का अच्छा प्रचार किया। श्रावकों को अपने कर्तव्य-पालन में दृढ़ बनाया और अवशिष्ट सांप्रदायिकता के जहर को अपने उपदेश-मंत्र से निकाल फेंका। यह चातुर्मास विक्रम सं. १९५५ में हुआ था।

पाठकगण ! इस तींवरी के प्रकरण पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से हमें पता लगता है कि हमारी चरित्र-नायिका के हृदय में कर्तव्य-परायणता की भावना बड़े दृढ़ रूप से वर्तमान थी। इनका यह स्वभाव था और आज भी है कि चाहे जितना भी परीपहों का कष्ट उठाना पड़े, चाहे जितनी भी बाधाओं का सामना करना पड़े, लेकिन ये अपनी कर्तव्य-परायणता की भावना और उसकी कार्यात्मक परिणति से रंच-मात्र भी च्युत नहीं होती हैं। यही एक कारण है कि इन्होंने आहार-पानी के

भयंकर उपसर्गों को भर ग्रीष्म ऋतु में सहन करके भी अपनी साधुत्व की अवस्था के कर्तव्यों को भलीप्रकार निवाहा।

सज्जनवृन्द ! और जरा गहरा विचार करिये। दुनिया में स्वादेन्द्रिय अत्यंत दुर्दम्य है और इसका दमन करना अन्य व्रतों के पालन करने में बहुत सहायक है। इसीलिए पूज्य महात्मा गांधी नें अस्वाद-व्रत अलग ही माना है और उनके जीवन में हम इसका पूर्णतया परिचय भी पा सकते हैं। रत्नश्रीजी महाराज साहब नें भी स्वादेन्द्रिय पर पूर्ण-विजय प्राप्त कर रखी थी। यही कारण था कि सिर्फ छाछ से ही आहार और पानी— दोनों की गरज इन्होंनें सारी थी। केवल छाछ के ही आधार पर रह कर धर्म-प्रचार करना ज़रा टेढ़ी खीर है। इस प्रकार की सहिष्णुता एवं स्वादेन्द्रिय का दमन हमें अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है। यही कारण है कि बहुत से क्षेत्र आज भी जैन-धर्म एवं उसकी महत्ता के ज्ञान से कोसों दूर हैं। बहुत-से क्षेत्र ऐसे हैं, जहां पर धार्मिक उपदेश लोगों को बिलकुल नहीं मिलता। इस उदाहरण से अन्य लोगों को शिक्षा लेना चाहिये।

विक्रम संवत् १९५६ में इनका चातुर्मास बीकानेर में हुआ था। इस वर्ष का दुर्भिक्ष बड़ा प्रसिद्ध है। उस समय अन्न बड़ा दुष्प्राप्य था। इसलिए इनको भी वहां आहार-संबंधी बड़े भीषण परीषह सहन करने पड़े। मार्ग में तो इनको वृक्षों की छाल और पत्तों के चूर्ण की रोटियें मिलती थीं और वे भी यथेष्ट नहीं। इतना परीषह सहन करके भी ये उसी प्रांत में

विहार करती रहीं और आवश्यकतानुसार स्थान-स्थान पर धर्म-प्रचार करती रहीं।

विक्रम संवत् १९६५ में श्रीमहाराज साहब का चातुर्मास जावरे में हुआ। वहां इनके उपदेश से कई लोगों ने श्रावकों के बारह व्रत ग्रहण किये।

एक समय रत्नश्रीजी महाराज साहब अपने गुरु श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब के साथ इन्दौर आये। वहां से इनके गुरु महाराज के उपदेश से मांडवजी के लिये एक संघ[1] निकला था, उसमें ये भी थीं। मार्ग में ये एक जगह गिर पड़ीं, इससे इनके हाथ को बड़ी चोंट पहुंची। इसलिए ये अपने गुरु महाराज की आज्ञा लेकर मार्ग में से ही लौटने लगी, लेकिन संघपति के अत्यंत आग्रह होने की वजह से इनको भी साथ-साथ जाना पड़ा। मांडवजी में अपनी तबियत के अस्वस्थ रहने के कारण इनको भगवान् के दर्शन न होसके, वहां से लौटते समय सिर्फ एक झलक रूप में भगवान् के दर्शन हुए। उसीसे इन्होंने अपने को कृतकृत्य माना।

प्रिय वाचकवृन्द! आध्यात्मिक क्षेत्र में भावना का अत्यंत महत्व है। भावना ही सिद्धिप्रदा है, भावना ही के अनुसार सिद्धि मिलती है। आध्यात्मिक जगत् में "इलिका-भ्रमरी-न्याय[2]"

---

१ संघ शब्द यहां पारिभाषिक है। इसका अर्थ सातवें प्रकरण की टिप्पनी में देखिये।

२ "वीतरागं यतो ध्यायन् वीतरागो भवेद्भवी,
इलिका भ्रमरीं भीता ध्यायंती भ्रमरी भवेत्।"

प्रसिद्ध है। इलिका भ्रमरी का ध्यान करते-करते उसमें इतनी तल्लीन होजाती है कि कुछ दिनों में वह भ्रमरीरूप ही होजाती है। कहा भी है—

" यादृशी भावना यस्य सिद्धि भवति तादृशी "

अर्थात् जिसकी जैसी भावना होगी, वैसी ही उसको सिद्धि मिलेगी। भगवान् महावीर के जीवन-काल में महाराज श्रेणिक

---

१ महाराज श्रेणिक भगवान् महावीर के शिष्य और राजगृही नामक नगरी के अधिशासक थे। उनके अपने भावि जन्म के बारे में प्रश्न करने पर भगवान् ने कहा था कि वे वहां से मर कर नरक में जावेंगे और वहां से इसी भरतक्षेत्र में पैदा होकर प्रथम तीर्थंकर होंगे। नरक-गमन की बात सुन कर महाराज श्रेणिक नें भगवान् से बहुत अनुनय-विनय-पूर्वक प्रार्थना की कि वे भगवान् के शिष्य होकर भी नरक में जावें! भगवान् उन्हें किसी तरह नरक की भयंकर यातना पूर्ण पाश से छुड़ा दें तो वे उनके बड़े कृतज्ञ होंगे। कृत-कर्म और बद्ध-गति कभी अन्यथा नहीं होसकती—यह सोच कर भगवान् नें उनको बहुत समझाया बुझाया, लेकिन महाराजा श्रेणिक नें अपना आग्रह नहीं छोड़ा। तब भगवान् नें उनको समझाने के उद्देश्य से दो-तीन असंभव कार्य, जो कि दिखने में आपाततः सर्वथा संभव जान पड़ते थे, करने के लिये उनको कहे। यदि महाराज श्रेणिक उन कार्यों को करने में सफल होसकें तो वे नरक से बच जायँगे। उनमें एक कार्य यह था कि कालिक-सूर्यनामक कसाई को जीवहिंसा से विरत कर देना। महाराज श्रेणिक नें उसको बुला कर अहिंसा का फायदा बता कर उसका पालन करने

और कालिकसूर्य नामक कसाई एवं जिनदत्त-श्रावक¹ और उसके पड़ौसी पूर्ण सेठ का निदर्शन इसी सिद्धान्त को परिपुष्ट करता

के लिये उसे कहा और वह गुप्तरूप से जीव-हिंसा न करे, इसलिए उसे एक गुफा में बंद करके वहां पहरा बिठा दिया और खुद भगवान् की वंदना करने के लिये रवाना हुए। समवसरण में पहुंच कर उन्होंने भगवान् को तीन प्रदक्षिणा-पूर्वक सविधि वंदना करके निवेदन किया कि मैं उस कसाई को जीव-हिंसा से विरत कर आया हूं। भगवान् ने कहा—"अपने आपको गुफा में बंद किये जाने पर और वहां मारने के लिये किसी भी जीव के न मिलने पर भी उसने जीव मारे हैं, जाकर देखो।" यह प्रभु की वाणी सुनकर महाराज श्रेणिक बड़े आश्चर्यान्वित हुए और वापस लौटकर गुफा में आये। सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर उन्होंने वहां शरीर के मैल के बने हुए पाड़े मारे हुए देखे। कालिक-सूर्य ने वहां जीव-हिंसा के सभी साधनों को अप्राप्य जान कर शरीर के मैल के पाड़े बनाये थे और गर्दन काट कर उनको मारा था।

सारांश यही कि अजीव पौद्गलिक आकृति के मारने पर भी कालिकसूर्य ने हिंसा-जन्य पाप का उपार्जन किया। इस हिंसा में कारण केवल भावना ही थी।

१ जिनदत्त श्रावक भगवान् महावीर के परम-भक्त थे। एक समय उनके मन में उत्कट भावना पैदा हुई कि वे भगवान् को पारना कराएं। यह उस समय की बात है, जब भगवान् छद्मस्थ अवस्था में विचर रहे थे और उन्होंने छद्मासी तप का निश्चय किया था। जिनदत्त श्रावक प्रतिदिन भगवान् को पारना करने के लिये निमंत्रण देते, लेकिन भगवान् मौन-धारण करने के कारण जवाब न देते थे।

है। इस सिद्धांत के आधार पर विचार किया जाय तो हमें मालूम होगा कि आचार, तप, जप आदि के करते रहने पर भी

तप पूर्ण होने पर भगवान् जिनदत्त सेठ के पड़ोसी पूर्ण सेठ के यहां आहार लेने गये। भगवान् को देख कर पूर्ण सेठ नें अपनी दासी को कहा 'इस भिक्षुक को थोड़ा-बहुत अन्न देकर यहां से जल्दी निकालो।' दासी नें कुछ खाद्य-सामग्री देकर भगवान् को विदा किया। भगवान् को आहार देने से पूर्ण सेठ के यहां पांच दिव्य प्रकट हुए। जब जिनदत्त सेठ नें देव-दुंदुभि का आवाज सुना, तो भगवान् का पारना होगया—समझ कर बहुत पश्चात्ताप किया।

उस समय श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की पट्ट-परंपरा में कोई ज्ञानी आचार्य वहां पधारे। किसी श्रावक के पूछने पर उन्होंनें कहा कि पूर्ण सेठ को पंच दिव्य प्रकट हुए—इतना ही फल मिला, लेकिन हृदय की पूर्ण भावना के कारण जिनदत्त सेठ नें उससे असंख्य गुना अधिक फल प्राप्त किया। जिनदत्त सेठ वहां से मरकर बारहवें अच्युत नामक देव-विमान में महर्द्धिक देव हुए, वहां से च्यवकर मोक्ष जावेंगें।

तात्पर्य यही कि पूर्ण सेठ को दान देने पर भी उतना फल न मिला, जितना जिनदत्त सेठ नें केवल भावना से ही दान देने के कारण प्राप्त किया। संक्षेप में, पाप एवं पुण्य का एक-मात्र कारण भावना ही है।

आज-कल भी किसी बादशाह या राजा-महाराजा के चित्र का उसके राज्य में अपमान करना कानून दृष्टि से अपराध माना जाता है। इसका संबंध भी भावना से ही तो है।

यदि भावना न रही तो वे सब क्रियाएं निष्फल हैं और आचार आदि क्रियाएं न करते हुए भी सिर्फ भावना से ही उनका फल मिल सकता है। इस दृष्टि-कोण से हमारी चरित्र-नायिका का सिर्फ झलक रूप में भगवान् के दर्शनों से ही अपने को कृत-कृत्य मान लेना सर्वथा उचित ही था।

उस समय मांडवजी में बदनावर के भी कुछ श्रावक आये हुए थे। उन्होंने श्रीमती पुण्यश्रीजी महाराज साहब से प्रार्थना की—"आप-लोगों का हमारे यहां कभी भी चातुर्मास न हुआ। इस समय आप-लोग वहां चातुर्मास करें तो हमारा बड़ा सौभाग्य होगा। आप-लोगों के पधारने से हमको धर्म का ज्ञान होगा और हम-लोग धर्म के वास्तविक तत्त्वों को भली-भांति समझ सकेंगे। यदि हम-लोग धर्म-परायण बन सके तो आपका हम पर बड़ा-भारी उपकार होगा।" यह सुनकर श्रीमहाराज साहब ने कहा—"इंदौर में जाने के बाद जैसा समुचित होगा, वैसा करेंगे। आप-लोग वहां आवें।"

उस समय बदनावर में श्रावक-लोग धर्म-परायणता एवं कर्तव्य-परायणता से कोसों दूर थे। वे लोग अपने धर्म से बिलकुल शिथिल होरहे थे। जो दशा हम ऊपर तीवरी की वर्णन कर आये हैं, उसीका कुछ-कुछ साम्य वहां नजर आरहा था। ऐसे समय में वहां किसी योग्य मुनिराज या साध्वीजी का विहार करना अत्यंत उपयोगी था। अस्तु।

संघ के वापस इंदौर आजाने पर वे लोग फिर श्रीमहाराज

साहब के पास प्रार्थना करने गये। तब महाराज साहब नें हमारी चरित्र-नायिका से छोटे श्रीसौभाग्यश्रीजी महाराज साहब को वहां जाने के लिये कहा, लेकिन उन्होंनें ऐसे कुक्षेत्र में जाने से इन्कार कर दिया। तब हमारी चरित्र-नायिका नें गुरु महाराज से प्रार्थना की—"यदि आप आज्ञा दें तो मैं बदनावर जाने को समुद्यत हूं, बशर्ते कि वे लोग मुझे सहू-लियत के साथ थोड़ी-थोड़ी मंजिल करके ले जावें।"

उन लोगों के इस शर्त के स्वीकार करने और श्रीगुरु महाराज की आज्ञा मिलने पर रत्नश्रीजी नें वहां से बदनावर के लिये विहार किया।

हम ऊपर कह आये हैं कि उस समय बदनावर के श्रावक-गण धर्म के वास्तविक तत्त्व को न जानने के कारण धर्म-परायणता एवं कर्तव्य-परायणता से बहुत दूर थे। तीवरी के समान वहां भी सांप्रदायिकता का ज़हर अभिव्याप्त था। इसलिए हमारी चरित्र-नायिका को यहां भी आहार-संबंधी अनेक कठिन उपसर्गों को सहन करना पड़ा। इनको विशुद्ध, शास्त्रोक्त एवं प्रासुक आहार और पानी यथेष्ट रूप से नहीं मिलता था, लेकिन ये तो ऐसे उपसर्गों को सहन करने के लिये सर्वतोभावेन कटिबद्ध और अभ्यस्त थीं। इनके तो जीवन का यही लक्ष्य था और है कि भयंकर-से-भयंकर परीषहों को सहन करके भी धर्म-प्रचार करना और इस प्रकार अपने साधुत्व के कर्तव्यों का सम्यक्तया निर्वाह करके भगवान् महावीर के साधु-साध्वी समाज के स्थापित

करने के उद्देश्य को पूर्णरूप से सफल बनाना। ये इस बात को अच्छी तरह समझती थीं कि, जब कि अपना जैन-समाज साधु-साध्वी समाज को आजीविका के कष्टों से विमुक्त कर उनके चौबीसों घंटों को सांसारिकता से सर्वथा पृथक् कर देता है, ऐसी हालत में साधु-साध्वी समाज का जैन-समाज एवं जैन-धर्म के प्रति कितना उत्तर-दायित्व-पूर्ण उच्च कर्तव्य रहता है। इसलिए हमारी चरित्र-नायिका ने कठिनतम परीषहों के बावजूद भी अपना उपदेश चालू रखा।

यद्यपि ये उस समय भी अधिक अस्वस्थ थीं और व्याख्यान बांचने में सर्वथा असमर्थ थीं, तथापि अपने कर्तव्य और उपकार बुद्धि को स्मरण कर प्रतिदिन घंटे-दो-घंटे नियमित रूप से अवश्य व्याख्यान बांचती थीं। ऐसे धार्मिक-चर्चाएं तो दिन-भर चलती ही रहती थीं।

इस प्रकार कुछ ही दिनों में इनकी कर्तव्य-परायणता, धार्मिकता, उपकार-बुद्धि, तपोबल एवं आत्मबल का इतना प्रभाव हुआ कि वहां के बयासी घर धर्म-परायण बन गये और उनमें पूर्ण संगठन स्थापित हुआ। बाद में अन्य साधुओं के समागम ने फिर वहां पारस्परिक कलह का बीज वपन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे लोग फिर अलग-अलग सांप्रदायिक टुकड़ों में विभक्त होगये। बाद में महीदपुर के मांडव के संघ में ये फिर वहां गईं थीं, तब भी इनसे वहां के लोगों ने चातुर्मास करने के लिये बहुत प्रार्थना की थी, लेकिन स्वास्थ्य

के ठीक न होने और महीदपुर के निशान के असमात होने के कारण ये उस प्रार्थना को स्वीकृत न कर सकीं। यह बदनावर का चातुर्मास विक्रम संवत् १९६६ में हुआ था।

दूसरे ही वर्ष इनका चातुर्मास मंदसौर में हुआ। वहां एक नानूरामजी नामक श्रावक थे। वे नाम-मात्र के जैन थे। जैनत्व की वास्तविक परिभाषा वहां समन्वित नहीं होती थी। न तो वे कभी मंदिर जाते थे और न कभी सामायिक वगैरह करते थे। प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं का नंबर तो वर्षों में कभी भाग्य से आजाता था। अतः वहां के सब लोगों ने महाराज साहब से प्रार्थना की—'आप नानूरामजी को धर्मपरायण बनाइये।' श्रीमहाराज साहब ने भी वैसा करने का निश्चय किया।

एक दिन महाराज साहब उनके घर पर आहार लेने के लिये गये। मौका ऐसा हुआ कि इनका तो उनके घर पर जाना हुआ और उनका शौच के लिये जल का पात्र लेकर घर से बाहर निकलना हुआ। इस प्रकार रास्ते में ही उनकी और इनकी मुठभेड़ होगई। यदि नानूरामजी को जरा भी खबर लग जाती कि श्रीमहाराज साहब आरहे हैं तो वे कन्नी दबाकर कहीं निकल जाते, क्योंकि वे किसी भी साधु या साध्वी के संमुख नहीं निकलते या आते थे, लेकिन अपने घर के आंगन में ही श्रीमहाराज साहब को आये हुए देख कर, घर पर आये हुए शत्रु का भी सत्कार करना चाहिये—इस सभ्यता और

मर्यादा के अनुसार उन्होंनें श्रीमहाराज साहब की वंदना की और आहार लेने के लिये बड़े विनय से प्रार्थना की। प्रार्थना को स्वीकृत कर ये अंदर गईं और आहार लेने के लिये पात्र सामने रखे। नानूरामजी के आहार देने के लिये समुद्यत होने पर इन्होंनें सहसा अपने पात्र हटा लिये और उनसे कहा—' तुम प्रतिदिन मंदिर के दर्शन करने की एक मास के लिये प्रतिज्ञा करो तो मैं आहार लूं, अन्यथा नहीं।' उनके अस्वीकृत करने पर ये अपने पात्र समेट कर वहां से चलने के लिये उद्यत हुईं। इस प्रकार अपने घर पर आये हुए अतिथि को वापिस लौटता हुआ देख कर नानूरामजी की आंखों में अश्रु भर आये। उनका पाषाण-हृदय पसीज गया। धर्म-विमुखता धर्मोन्मुखता में परिणत होगई। अश्रुओं से हृदयनिष्ठ कल्मष सब धुल गया। फिर से धर्म की ओर अभिरुचि पैदा हुई। चित्त-भूमि को निष्कल्मष और धर्म-बीज के वपन के उपयुक्त जान कर श्रीमहाराज साहब नें थोड़े-से शब्दों में उनको धर्म का मर्म समझाया। अंत में नानूरामजी नें एक मास के लिये देव-दर्शन करने की प्रतिज्ञा की और श्रीमहाराज साहब नें उनके हाथों से आहार-दान लिया। बाद में ' अंगुलिदांने भुजं गिळसि '—अंगुलि पकड़ कर पहुंचा पकड़ने के न्याय से उनको गुरुदर्शन की भी प्रतिज्ञा करवाई।

श्रीमहाराज साहब नें अन्य श्रावकों को सूचित कर दिया था कि नानूरामजी के उपाश्रय में आने पर कोई भी उनकी

हंसी एवं टीका-टिप्पनी न करे। पतित को प्रेम से अपनाने से ही उसका उस पतितावस्था से उद्धार किया जासकता है, न कि तिरस्कार या उपहास से। इसका नमूना श्रमण भगवान् महावीर के जीवन में और आधुनिक काल में अमेरिकन क्रिश्चियन मिशनरी की धर्म-प्रचार की कार्य-प्रणाली में देख सकते हैं। इसका इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि धीरे-धीरे नानूरामजी व्याख्यान में आने लगे और कुछ ही समय में श्रीमहाराज साहब के सदुपदेश से प्रभावित होकर वे इतने कट्टर धर्म-परायण होगये कि प्रतिदिन देव-पूजा और महाराज साहब का आद्यंत व्याख्यान-श्रवण करने लगे। बाद में उन्होंने तीर्थयात्रादि अनेक धर्म-कृत्य किये। वे महाराज साहब के परम-भक्त बन गये और आजीवन बने रहे। इस प्रकार वहां हमारी चरित्र-नायिका नें और भी कई अन्य श्रावकों को कर्तव्य-परायण एवं धर्म-परायण बनाया। संक्षेप मे, इन्होंनें उस कुक्षेत्र को भी सुक्षेत्र बनाया।

विक्रम संवत् १९६८ में इनका चातुर्मास गंगधार में हुआ। वहां भी इन्होंनें पंद्रह श्रावकों को, जो कि धर्म-मार्ग से शिथिल थे, धर्म-परायण बनाया और दृढ रूप से विशेष श्रद्धालु बनाया।

एक समय विक्रम संवत् १९६९ के लश्कर के चातुर्मास के बाद यथाक्रम से विहार करती हुई हमारी चरित्र-नायिका भरतपूर गईं। वहां इन्होंने अहिंसा का अच्छा प्रचार किया।

बहुत-से मनुष्यों को प्रथम-महाव्रत की[1] शपथ दिलवाई—बहुतों को जीव-हिंसा से विरत किया।

विक्रम संवत् १९७० और १९७१ में रत्नश्रीजी महाराज के दो चातुर्मास जयपुर में हुए। वहां सागरमलजी और सरदारमलजी संचेती नाम के दो भाई धर्म से बहुत शिथिल होरहे थे। वे व्यसनों में भी बड़े संसक्त थे। उनको अपनी कौटुंबिक कीर्ति एवं कुलीन व्यवहारों का कुछ भी खयाल न था। रत्नश्रीजी महाराज साहब को यह बात श्रावकों के द्वारा मालुम हुई। इन्होंने उन भाइयों को उस पतन के मार्ग से निकाल कर धर्म के श्रेष्ठतम प्रवाह में बहा देने का निश्चय किया।

उस समय उनकी सौतेली मां की एक दासी ने, जो कि उनको अपने पीहर से दहेज में मिली थी, श्रीमहाराज साहब के उपदेश से जैन-धर्म अंगीकार किया और क्रम से वह दृढ श्रद्धावान् श्राविका होगई। बाद में उसी चातुर्मास में उसने मासक्षमण[2] और संचेतीजी की मां ने आठ उपवास किये। जिस दिन उनके पारने का दिन था, उस दिन रत्नश्रीजी महाराज साहब खुद उनके यहां गोचरी[3] के लिये गई। इस वक्त तक

---

१ अहिंसा।

२ एक मास तक पानी के सिवाय सभी खाद्य-पेयादि पदार्थों के त्याग करने को मासक्षमण कहते हैं।

३ गाय के समान इधर-उधर फिर कर अपने योग्य आहार लेने को गोचरी कहते हैं। वस्तुतः मधुकरी शब्द का यह पर्यायवाची है।

संचेती-बंधु इनके संमुख कभी भी नहीं आये थे। उस दिन अपने घर पर ही मासक्षमणादि तप का उत्सव जान उनको यह भावना पैदा हुई कि अपन अपने हाथों से ही सत्पात्र को आहार-दान दें। इसी समय हमारी चरित्र-नायिका वहां आहार-दान लेने के लिये गईं। जब संचेती-बन्धु इनको आहार-दान देने के लिये उद्यत हुए, तब रत्नश्रीजी नें उपयुक्त समय देख कहा—"यदि तुम दोनों पर-स्त्री-गमन-विरति, देव-दर्शन और गुरु-दर्शन के सौगंध लो तो मैं तुम्हारे हाथ से आहार-दान लूं, अन्यथा नहीं।"

संचेती-बन्धु नें इनकी आहार-दान लेने के लिये बहुत प्रार्थना की, लेकिन ये अपने निश्चय पर दृढ़ रहीं। अन्त में इनको वापस लौटते देख कर उन्होंनें एक मास के लिये तीनों बातों की शपथ ली और बड़ी भावना से इनको आहार-दान दिया। बाद में वे प्रतिदिन देव और गुरु के दर्शन करने लगे। कुछ ही दिनों में उनकी भावना इतनी बढ़ गई कि एक मास की सौगंध की अवधि पूर्ण होजाने पर भी उन्होंनें उन तीनों नियमों का परिपालन करना आरंभ रखा। बाद में तो उन्होंनें आजीवन के लिये तीनों बातों के और प्रतिदिन शाम-सुबह प्रतिक्रमण करने, चौदह नियम रखने एवं नवस्मरण आदि पाठ करने वगैरह के बड़े हर्ष से सौगंध लिये। प्रतिक्रमण के पाठ भी उन्होंनें कंठस्थ किये। तब से वे दृढ कर्तव्य एवं धर्म में परायण बने। आज तक वे वैसे ही उन नियमों

का पालन करते आरहे हैं। आज भी वे देव एवं गुरु की सेवा बड़ी तत्परता और लगन के साथ कर रहे हैं।

दूसरे ही वर्ष रत्नश्रीजी महाराज साहब का चातुर्मास फिर तींवरी में हुआ। वहां के बाकी बचे हुए अपने मिशन को इन्होंने पूर्ण किया। श्रावकों को और भी जैन-धर्म में दृढ बनाया। श्रावकों में छूनकरनजी का नाम उल्लेखनीय है। उनको श्रीमहाराज साहब ने विशेष धर्म-परायण बनाया और सात-वर्ष तक गरम पानी पीने की सौगंध दिलाई।

चातुर्मास के बाद रत्नश्रीजी महाराज विहार करते हुए अजमेर से दस माईल दूर किसी गांव में गये। उस समय इनको और इनके साथ की अन्य साध्वियों को दो उपवास—बेले का पारना था। इसलिए ये वहां ठहरीं। उस गांव में उस समय प्लेग बड़े जोरों से था, अतः सब गांव के लोग जंगल में ही झोंपड़ियें बना कर रहते थे। रत्नश्रीजी भी वहीं—गांव के बाहर जंगल में एक वृक्ष के नीचे ठहरीं, चूंकि कोई भी झोंपड़ी खाली न थी।

वहां मेघवार जाति का गिरधारीलाल नामक एक चमार रहता था। वह बहुत जीव-हिंसा करता था। वह उस तरफ से निकला, जहां महाराज साहब ठहरे थे। इनको देखते ही वह बड़ा प्रभावित हुआ और इनसे अत्यंत विनय-भाव से प्रार्थना करने लगा— "आप-लोग यहां जंगल में न रहें, यहां हिंसक जंतुओं का बड़ा डर है, इसलिए आप-लोग गांव में चलें।"

श्रीमहाराज साहब नें उत्तर दिया—"गांव में तो प्लेग है, इसलिए हम-लोग वहां नहीं चल सकते हैं।"

यह सुनकर निरुत्तर हो वह वहां से चला गया और महाराज साहब के रहने के लिये योग्य-व्यवस्था सोचने लगा। अंत में उसको अपनी खुद की झोंपड़ी का खयाल आया, जो कि उसी दिन बन कर तैयार हुई थी। उसनें सोचा कि नई झोंपड़ी में इन महात्माओं के चरण गिरें, तो मेरा बड़ा-भारी सौभाग्य होगा और झोंपड़ी भी पवित्र होजावेगी। बाद में उसमें रहने से मेरा कल्याण ही होगा।

पाठकवृन्द ! वह जाति का चमार होकर भी बड़ा भद्र, आस्तिक एवं सरल हृदय का पुरुष था। अशिक्षित, असभ्य और लौकिक दृष्टि से अधमकुलोत्पन्न होकर भी उसनें जो उस समय त्याग किया, वह अत्यंत सराहनीय है। इस प्रकार का त्याग वहां श्रावकों से भी नहीं होसका। इस दृष्टि से और "गुणाः पूजास्थानम्" इस न्याय से वह श्रावक से भी बढ़ कर था।

अंत में उपर्युक्त विचार करके वह फिर महाराज साहब के पास आया और हाथ जोड़ कर बड़ी नम्रता से प्रार्थना करने लगा—'आप गांव में भले ही न पधारें, लेकिन मेरी झोंपड़ी में, जो कि गांव के बाहर अभी-अभी बन कर तैयार हुई है और बिलकुल नई है, पधारें तो मेरा बड़ा भारी सौभाग्य होगा और आपश्री के पाद-पद्मों से वह पवित्र भी होजावेगी।

आपके उसमें रहने से हम-लोगों को तो कोई कष्ट न होगा, क्योंकि हम-लोग तो जंगली हैं और जंगल में ही बहुधा रहा करते हैं।'

इस प्रकार उसकी आत्यंतिक प्रार्थना एवं आग्रह देख कर रत्नश्रीजी महाराज साहब उस झोंपड़ी में गईं। वहां इन्होंनें रात-भर रहने का निश्चय किया।

रात्रि में गिरधारीलाल वहां आया और साथ में पांच-सात और भी अपनी जाति के मनुष्यों को बुला लाया। वहां आकर उसने श्रीमहाराज साहब की सुख-शान्ति पूछी और उपदेश सुनाने के लिये इनकी प्रार्थना की।

तब श्रीमहाराज साहब नें उनको अहिंसा के विषय में उपदेश दिया, हिंसा के भयंकर दोषों एवं अहिंसा के उच्चतम लाभों पर प्रकाश डाला और उनको जीव-हिंसा से विरत होने के लिये कहा। इससे अत्यंत प्रभावित होकर उसनें अपने जीवन-भर की की हुई हिंसा और जीवन-भर के अन्य पापों को इनके सामनें कबूल करके उनके विषय में अत्यंत पश्चात्ताप किया और आगे प्राण रहते तक सर्वथा हिंसा न करने की प्रतिज्ञा की।

सज्जनगण! इस प्रकार अपने कृत-कर्मों को गुरु-जनों के समक्ष कबूल कर उस पर हृदय से पश्चात्ताप करना अत्यंत उत्कृष्ट तप है। आंतरिक तप के भेदों में कहा हुआ प्रायश्चित्त यही है। संसार में प्रायश्चित्त की और भी विधियां दृष्टि-गोचर होती हैं, लेकिन

मेरी समझ में, इससे उत्कृष्ट और दूसरी प्रायश्चित्त की विधि नहीं हो सकती है। कृत-कर्मों को कबूल न कर और उस पर पश्चात्ताप न कर बाह्य-तप की ओर प्रवृत्त होना निरा ढोंग है और लोगों को ठगने की एवं व्यर्थ अपनी प्रशंसा कराने की एक कला है। आज-कल हर जगह यही देखने को मिलता है। इससे जो अपने समाज, साहित्य एवं धर्म की दुर्दशा और अवनति हुई, उसको लिखते हुए लेखनी थर्राने लगती है। अस्तु।

दूसरे दिन महाराज साहब के विहार करते समय गिरिधारीलाल आया और इनके वियोग पर बड़ा ही खेद प्रकट करने लगा। इस पर महाराज साहब नें उसे आश्वासन दिया और अपने नियम पर दृढ़ रहने के लिये उपदेश किया। इसे शिरोधार्य कर और श्रीमहाराज साहब के उपकार को स्मरण करके वह रोने लगा और इनसे अत्यंत नम्र-भाव से प्रार्थना करने लगा—'आपका मुझ पर बहुत उपकार है। आपने मेरे जीवन को सन्मार्ग पर लगा दिया। मैं तो आपकी कुछ भी सेवा न कर सका। अब फिर कभी आप इधर से पधारें तो मुझ अधम सेवक को भी अवश्य दर्शन देकर कृतार्थ करियेगा।'

श्रीमहाराज साहब नें इसे स्वीकृत कर वहां से आगे विहार किया।

प्रिय वाचकवृन्द ! इस प्रकार अस्पृश्यों को गले लगाना और बड़े प्रेम से उनको अपना कर सदुपदेश से सन्मार्ग पर लगाना आधुनिक समय में समाज में एक अत्यंत अधम कर्म या

पाप माना जाता है। इसका कारण यदि ढूंढा जाय तो सिवाय अन्य-संप्रदाय और अन्य-समाज के नैरंतरिक सहयोग एवं संपर्क से बिगड़े हुए संस्कार के और कोई भी कारण दृष्टि-गोचर नहीं होता। मानव-समाज के कुछ व्यक्तियों को केवल इसी कारण से कि वे अधम-कुल में उत्पन्न हुए हैं, सन्मार्ग पर चलने, आध्यात्मिक उन्नति करने और देश, समाज, धर्म तथा साहित्य की सेवा करने के साधनों एवं उनके कारणीभूत सदुपदेश से वंचित कर देना क्या योग्य है? क्या इसीका नाम मनुष्यता है?

प्राचीन इतिहास पर दृष्टि डालिए। क्या भगवान् महावीर नें अस्पृश्यों को गले नहीं लगाया था? क्या उन्होंनें अपने समवसरण में अस्पृश्यों को स्थान देकर मानवता एवं सहृदयता की की रक्षा नहीं की थी? क्या भगवान् महावीर नें अपने जीवन में एक-मात्र पतित-पावनत्व का ध्येय नहीं रखा था?

जो व्यक्ति भयंकर रूप से पतित चण्डकौशिक नामक दृष्टिविष सर्प को गले लगाने, प्रेम के अमोघ अस्त्र से उसके विष की ज्वालाओं और उसके क्रोध को नष्ट करने तथा उसको अपने सदुपदेश से अवनति के महान् गर्त से निकाल कर आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर आरूढ़ कर देने के प्रयत्न करने में अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता, क्या वह व्यक्ति पतित-पावन नहीं हो सकता? क्या उनके सिद्धान्त अस्पृश्यों को अपना कर उनको सन्मार्ग पर लगाने और उन्हें

आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्र में समान अधिकार देने के विरोधी हो सकते हैं?

बाद में भी रत्नप्रभसूरि आदि हमारे पूर्वज महान् आचार्यों नें अस्पृश्यों को अपनाने एवं उनको जैन-धर्म में दीक्षित कर जैन-धर्म और जैन-समाज को संगठित रूप से सुरक्षित करने के लिये सराहनीय प्रयत्न किया था। समाज एवं धर्म की अभिवृद्धि के लिये अमोघ शस्त्र शुद्धि का संसार में सर्वप्रथम आविष्कार और उसका उपयोग उनके सिवाय और किसने किया था?

आदि-काल पर दृष्टि डालिए। श्रीऋषभदेव भगवान् के समय के और उनके कुछ पूर्व के—उनके पिता के समय के जमाने की सामाजिक-व्यवस्था पर विचार करिये। क्या उस समय अस्पृश्यता का अस्तित्व था? या क्या भगवान् नें ही अस्पृश्यता को जन्म दिया था? शास्त्रों को देखने से पता चलता है कि दोनों में से एक बात भी उस समय अस्तित्व में न आई थी, तो फिर विचार करिए, यह अस्पृश्यता का विष समाज एवं धर्म को नष्ट करने के लिये कब और कहां से आया?

अब अपने सिद्धांतों पर आइये और उन्हें भी देखिए तथा उनमें ढूंढिए कि उनके आधार पर भी अस्पृश्यता का अस्तित्व नज़र आता है या नहीं? जैन-सिद्धान्त कर्मवाद एवं स्याद्वाद पर अवलंबित हैं। जैन-सिद्धान्तों में जाति की मान्यता भी मुख्यतया कर्म पर ही अवलंबित है। मनुष्य जाति से अधम या उच्च नहीं हो सकते। जाति से तो वे सब समान हैं।

कर्म ही से वह अधम या उच्च, शूद्र या ब्राह्मण हो सकता है। अन्य शब्दों में अधमत्व, उच्चत्व आदि वैषम्य का प्रयोजक जैन-सिद्धान्तों की दृष्टि से कर्म ही है। देखिए, उत्तराध्ययन-सूत्र में पच्चीसवें अध्ययन में लिखा है—

" नवि मुंडिएण समणो न ओंकारेण बंभणो
न मुणी रन्नवासेणं कुसचीरेण तावसो ॥ ३१ ॥
समयाए समणो होई बंभचेरेण बंभणो
नाणेणय मुणी होई तवेणं होइ तावसो ॥ ३२ ॥
कम्मणा बंभणो होई कम्मणा होइ खत्तिओ
वइसो कम्मणा होई सुद्दो हवइ कम्मणा ॥ ३३ ॥

---

१ यहां पर इसीके प्राचीन टीकाकार पंडितवर्य श्रीवल्लभ-सूरिजी ने लिखा है कि—

" कर्मणा–क्रियया ब्राह्मणो भवति। " क्षमा दानं दमो ध्यानं, सत्यं शौचं धृतिः कृपा; ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्— " अनया क्रियया लक्षणभूतया ब्राह्मणः स्यात्। क्षत्रियः—शरणागत-त्राणलक्षणक्रियया क्षत्रिय उच्यते, न तु केवल क्षत्रियकुले (जात्या) समुत्पन्ने सति शस्त्रबंधनत्वेनैव क्षत्रिय उच्यते। एवं वैश्योऽपि कर्मणा—क्रियया एव स्यात्, कृषिपशुपाल्यादिक्रियया वैश्य उच्यते। कर्मणा एव शूद्रो भवति, शोचनादिहेतुप्रेषणमारोद्वहनजलाद्याहरणचरण-मर्दनादिक्रियया शूद्र उच्यते......इत्यादि। "

अर्थात् क्षमा, दान, दम, ध्यान, सत्य, शौच, धैर्य, कृपा, ज्ञान, और आस्तिक्य—ये ब्राह्मण के लक्षण हैं। इन क्रियाओं से —गुणों से मनुष्य ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता है। शरणागत की रक्षा करना आदि क्रियाओं से क्षत्रिय होता है, न कि क्षत्रिय-कुल में

अर्थात् मुंडन कराने से कोई श्रमण—साधु नहीं होसकता, न ओंकार का जाप करने से कोई ब्राह्मण हो सकता है, न

पैदा होने एवं शस्त्र बांध लेने से क्षत्रिय कहा जासकता है। इस प्रकार वैश्य कृषि, पशुपालन आदि कर्मों से और शूद्र सेवा के कार्यों से कहा जाता है। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त गुण ही—कर्म ही ब्राह्मण आदि संज्ञा के या वर्ण-विभाग के प्रयोजक हैं, न कि जाति या जन्म।

इस ही टीका में बारहवें अध्ययन में चौदहवीं गाथा के व्याख्यान में कहा है—

" 'कर्मविशेषेण चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम्' इति वचनात् विद्या-विहीना न ब्राह्मणा इति।"

चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था कर्म-विशेष के ही ऊपर अवलंबित है।

अपि च— "सक्खं खु दीसई तवोविसेसो न दीसई जाइ विसेस कोई; सोवागपुत्ते हरिएससाहुं जस्सेरिसा इड्डि महाणुभागा।"

(उत्तराध्ययनसूत्र १२ अध्ययन ३७ गाथा।)

'हरिकेशबल मुनि' चाण्डाल के कुल में उत्पन्न होने पर भी तप रूप विशेष कर्म से समाज में पूज्य एवं मान्य बने—यह कथा भी उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में कही हुई है।

'मेतार्य मुनि' की कथा प्रसिद्ध ही है। जिज्ञासुओं और विशेष देखने की इच्छा रखनेवाले सज्जनों को उन स्थलों को शास्त्रों में सूक्ष्मदृष्टि से देखना चाहिये। संक्षेप में तात्पर्य इतना ही है कि जाति कर्म पर ही अवलंबित है। नीच कुल में उत्पन्न मनुष्य भी सत्कर्म एवं सद्गुणों से पूज्य एवं प्रतिष्ठित बन सकता है। कहा भी है—"गुणाः पूजास्थानम्।" इसके उदाहरण आधुनिक युग में भी हमें मिलते हैं।

जंगल में रहने से कोई मुनि हो सकता है और न कोई कुश के वस्त्र पहिनने से तापस हो सकता है। मनुष्य शत्रु एवं मित्र पर समान-भाव रखने से श्रमण, ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तापस हो सकता है। तात्पर्य यह कि कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण बनता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र बनता है।

कर्म भी कई तरह के होते हैं, जैसे—इस जन्म के और पूर्व-जन्म के; उनमें भी आत्मिक, मानसिक और शारीरिक आदि। इन सभी की दृष्टि से अस्पृश्यों में अस्पृश्यत्व सिद्ध नहीं होता। क्या इस जन्म के और पूर्व-जन्म के आत्मिक, मानसिक एवं शारीरिक हीन-कर्म वाले अपने समाज के व्यक्तियों को हम अस्पृश्य समझते हैं? नहीं, तो हमें क्या अधिकार है कि हम अधम-कुल में पैदा हुए व्यक्ति को अस्पृश्य समझें? क्या हम अपनी मातृ-जाति को, जो कि बच्चों के मल-मूत्र साफ करती है, अस्पृश्य मानते हैं? नहीं, तो क्या यह हमारा नैतिक अधःपतन नहीं कि उसी कारण के लागू होने पर एक जाति को हम अस्पृश्य समझें? अधम-कुल में उत्पन्न होना भी कर्म के अधीन है। अतः जिस प्रकार स्पृश्य-कुल में पैदा होने पर भी जो व्यक्ति दुराचारी, व्यसनी, व्यभिचारी हो, वह अस्पृश्य नहीं समझा जाता, वरन् दया का पात्र रहता है; उसी प्रकार हमारा कर्तव्य है कि अधम कुल में पैदा हुए मनुष्यों को तिरस्कार एवं घृणा का पात्र न समझ कर दया का ही पात्र

समझें। भेद सिर्फ इतना ही है कि एक के दुष्कर्म पूर्व-जन्म में किये हुए हैं, और दूसरा इस जन्म में ही दुष्कर्म कर रहा है। यह भेद कोई स्पृश्यत्व और अस्पृश्यत्व का प्रयोजक नहीं हो सकता। एकांगी नियम, नियम नहीं कहा जा सकता, नियम तो सर्वांगीण ही होना चाहिये। क्या कोई भी कानून एक जाति पर लागू हो और दूसरी पर लागू न हो तो वह नीति-पूर्ण कानून कहा जा सकता है?

अतः यथार्थ में यदि देखा जाय तो अपृश्यता न तो ऐतिहासिक दृष्टि से और न वह किसी युक्ति, तर्क या सिद्धांत से ही सिद्ध होती है। उसकी उत्पत्ति मध्य-काल में मानव-जाति के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की अधम स्वार्थ-सिद्धि की भावना से हुई प्रतीत होती है। अस्पृश्यता का यह मकान मनुष्य-जाति की उसी भावना की नींव पर अवलंबित है, जो कि मनुष्य को मनुष्य-जाति के ही लोगों को गुलाम या दास बनाने के लिये प्रेरित करती है। हमारा तो यही अनुमान है। अस्तु।

विक्रम संवत् १९८२ में रत्नश्रीजी महाराज साहब का चातुर्मास नयाशहर में हुआ। उस समय इन्होंनें गांव के बाहर एक बगीचे में चातुर्मास किया था। चातुर्मास समाप्त होजाने पर इनकी इच्छा जयपुर की तरफ विहार करने की थी, चूंकि जयपुर के श्रावकों की वहां चातुर्मास करने के लिये बड़ी आग्रह-पूर्ण विनति थी, लेकिन इनका स्वास्थ्य अत्यंत बिगड़ गया। इससे विवश होकर इनको वहीं रहना पड़ा।

वहां शंकरलाल नामक एक स्टेशन-मास्तर रहते थे। वे जैन-साध्वियों से बड़े डरते थे और उनके ऊपर बड़ा द्वेष रखते थे। उसका कारण यह था कि पहले कुछ साध्वियों नें उनकी पत्नी को जबरन अपने पति से कलह करके दीक्षा लेने के लिये उद्यत किया था। इस बात से उनका यह खयाल हुआ कि जैन-साध्वियें व्यर्थ औरतों को बहकाया करती हैं। इसलिए वे अपनी पत्नी को हमारी चरित्र-नायिका के पास भी जाने से रोकते थे, लेकिन कुछ दिनों तक उन्होंनें जब महाराज साहब की उच्च दिनचर्या, शान्त-स्वभाव एवं आत्मिक शक्ति को प्रत्यक्ष किया तो वे उनसे बड़े प्रभावित हुए। धीरे-धीरे उनका वह भय एवं द्वेष लुप्त होने लगा, चूंकि आत्मिक शक्ति संसार में सर्वोपरि रहती है एवं उसका प्रभाव बड़ा जबर्दस्त रहा करता है।

एक दिन रत्नश्रीजी महाराज साहब की तबियत बहुत ज्यादा खराब होगई। तब उन मास्तर साहब नें अपनी पत्नी को श्रीमहाराज साहब के पास उनको देखने और उनकी तबियत की पूछ-ताछ करने के लिये भेजा। उसनें महाराज साहब के पास आकर उनकी तबियत की पूछ-ताछ की। जब वापस लौट कर उसने महाराज साहब की तबियत का वर्णन किया, तब मास्तर साहब को महाराज साहब की तबियत की भयंकरता देख कर बड़ा दुःख मालूम हुआ। अतः उन्होंनें एक होशियार वैद्य को बुलवा कर महाराज साहब की नाड़ी दिखलाई। ठीक

निदान होजाने पर उन्होंनें वैद्यजी की चिकित्सा प्रारंभ की। श्रीमहाराज साहब के सदाचरण को देख कर मास्तर साहब इतने अधिक प्रभावित हुए कि जब तक महाराज साहब पूर्ण स्वस्थ न हुए, तब तक उनकी सेवा भी उन्होंनें ही की। महाराज साहब के पेट के आस-पास दो-तीन गांठें होगई थीं, अतः उनके साथ की साध्वियें सेवा करने से डरती थीं। इसलिये उनकी सेवा का समस्त भार मास्तर साहब के कंधों पर पड़ा और इस उत्तरदायित्व-पूर्ण कर्तव्य का निर्वाह भी उन्होंनें खूब किया। कुछ दिनों में श्रीमहाराज साहब पूर्ण स्वस्थ हो गये और मास्तर साहब की सेवा सर्व-प्रकार से सफल हुई।

इस प्रकार धीरे-धीरे मास्तर साहब, महाराज साहब के पास आने लगे और अपनी पत्नी को भी उनकी सेवा करने के लिये भेजने लगे। इस सहवास या संपर्क का इतना असर हुआ कि कुछ ही दिनों में वे रत्नश्रीजी के परम-भक्त एवं जैन-धर्म के इतने प्रेमी हो गये कि वे हर एक श्रावक का, जो कि बाहर से श्रीमहाराज साहब के दर्शनों के लिये आता था, अच्छी तरह खान-पान आदि की सामग्रियों से सत्कार करते थे।

विक्रम संवत् १९८९ में श्रीमहाराज साहब का इटारसी में चातुर्मास हुआ। वहां इनके उपदेश से दो सौ अजैन लोगों नें जीव-हिंसा का आजीवन के लिये सर्वथा त्याग किया, याने अहिंसा नामक प्रथम व्रत स्वीकार किया।

विक्रम संवत् १९९० और १९९१ के भोपाल चातुर्मास

में इनके उपदेश से आलोचन, व्रत, प्रत्याख्यान[1] वगैरह अच्छी तादाद में हुए। कई लोगों ने श्रावकों के बारह व्रत लिये।

विक्रम संवत् १९९२ से १९९५ तक के महीदपूर के के चातुर्मासों में इनके उपदेश से कई श्रावक और श्राविकाओं ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार कई महिनों के लिये शील-व्रत को ग्रहण किया। और भी व्रत-पच्चखान काफी तादाद में हुए।

इनके अलावा श्रीमहाराज साहब जहां जाते और जहां चातुर्मास करते, सर्वत्र इनके उपदेश से व्रत-पच्चखान आदि काफी संख्या में हुआ करते थे।

१ किसी भी वस्तु का त्याग करने और तप के ग्रहण करने को प्रत्याख्यान—पच्चखान कहते हैं।

उपदेशों से हुए धार्मिक कार्य

पाठकवृन्द ! ऊपर के प्रकरण में हमने श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब के उपदेश और धर्म-प्रचार पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली है। अब हमें उनके उपदेशों से हुए धार्मिक कार्यों को देखना है। हम ऊपर कह आये हैं कि श्रीमहाराज साहब के वचन—उपदेश बड़े प्रभावशाली होते हैं। उनका श्रोताओं पर असर पड़े बिना नहीं रह सकता। उन्हीं प्रभाव-पूर्ण उपदेशात्मक वाक्यों से इननें अपने जीवन में जो-जो धार्मिक कार्य करवाये हैं, उनके ऊपर अब हमें दृष्टि डालना है।

विक्रम संवत् १९६४ में रत्नश्रीजी महाराज साहब का चातुर्मास फलोधी में हुआ। उस समय उनके उपदेश का प्रभाव एक श्राविका पर बहुत अधिक हुआ। इनके उपदेश से उसका और साथ में उसकी सास और दो कुमारी कन्याओं का हृदय वैराग्य में तन्मय होगया। चातुर्मास पूर्ण होने पर उन्होंनें जेसलमेर का संघ निकाला। उसमें सिर्फ औरतें ही शामिल थीं। संघ निकालने के कुछ ही दिनों के बाद उन चारों नें दीक्षा

ग्रहण की थीं, जिसका वर्णन आगे के प्रकरण में किया जायगा।

जेसलमेर फलोधी से लगभग सत्तर माइल दूर है। वहां गाड़ियों या ऊंटों के द्वारा जाया जाता है। जैन-जगत् में जेसलमेर बड़ा प्रसिद्ध है। वहां का प्राचीन ज्ञान-भांडार, जिसमें जैन-साहित्य बहुत बड़ी तादाद में बहुत प्राचीन समय से ही सुरक्षित है, बहुत प्रख्यात है। जेसलमेर में जैन-प्रतिमाएं भी असंख्य बतलाते हैं। जेसलमेर प्राचीन समय से ही जैनियों का एक तीर्थस्थान समझा जाता है। मारवाड़ की ओर जाने वाले यात्रीगण जेसलमेर अवश्य जाते हैं और वहां की प्राचीन प्रतिमाओं तथा ज्ञान-भांडार में सुरक्षित ज्ञान के दर्शन कर अपने को कृतकृत्य मानते हैं।

जैन-सस्ती-वाचनमाला भावनगर से प्रकाशित जैन-तीर्थ-माला में जेसलमेर का वर्णन इस प्रकार हैं—

" हालमां जेसलमेर थी थोडेक दूर मोटो किल्लो छे, त्यां चढवानो रस्तो दस मिनट नो छे। अहींया श्रावक नी वस्ती सारी छे। देरासर आठ छे। प्रतिमा आशरे ६०८ छे। त्यां पार्श्वनाथ नी प्रतिमा महाप्रभाविक अने चमत्कारिक छे। एक देरासर खेतरवा दूर छे देरासरजी नी बांधणी घणी सुंदर अने चमत्कारिक छे। अहीं ७०० थी २००० वर्ष सुधी नी जूनी प्रतिमाओ छे। त्यांना भोयरामां घणां थांभला छे। त्याना लोको कहे छे के त्यां पुस्तक-भंडार छे, तेमां ताड-पत्र ऊपर लखेला ग्रंथो छे।"

" संवत १४६१ नी साल मां जिनराज सूरि नी पाटे जिनवर्धन सूरी थया, तेओए जेसलमेर मां मूलनायक चिंतामणि नी बराबर क्षेत्रपाल नी मूर्ति बेसाड़ेली जोई विचार थयो के क्षेत्रपाल जिनराज नो सेवक छे, जेथी ते मूर्ति त्यांथी उठावी दरवाजा आगल पधरावी, तेथी क्षेत्रपाल कोप करी ज्यां-त्यां आचार्य नी अवहेलना करवा लाग्यो। आचार्य चितोड़ गया, त्यां पण तेम करवाथी लोकोनी आचार्य ऊपर थी श्रद्धा उतरी गई, थोड़ा वखत पछी आचार्य गांडा थई गया। जे थी पीपल गामे तेमनां केटलाक शिष्यो साथे रह्या। पछी सागरचन्द्र आचार्य आवी बीजा क्षेत्रपाल ने आराधी सर्व संघ नी अनुमति मंगावी नवा आचार्य स्थापन कर्या।"

" जिनभद्र सूरिना उपदेश थी संवत् १४९७ मां संभवनाथ ना देरासर नी प्रतिष्ठा थई हती। चिंतामणीजी नी प्रतिष्ठा संवत् १२२० मां थई छे।"

" समयसुंदर गणि पण जेसलमेरनी स्तुति करतां कहे छे के 'जेसलमेर जुहारिये दुःख वारिये रे, अरिहंत ना बिंब अनेक तीरथ ते नमुं रे'।"

जेसलमेर जाने वाले यात्री-गण और संघ आदि लोद्रवाजी, जो कि जेसलमेर से दस माइल दूर एक तीर्थ है, प्रायः अवश्य जाते हैं। लोद्रवाजी बड़ा चमत्कारिक तीर्थ बतलाया जाता है। इसका वर्णन जैन-तीर्थ-माला में इस प्रकार किया गया है—

" लोद्रवा गाम मां पार्श्वनाथ नुं देरासर छे। त्यांनी

प्रतिमा मां अने थांभलाओ मां थी भादरवा मास मां अमी झरे छे। तेमज प्रभु नी प्रतिमाजी ऊपर संफेद सर्प आवी नें फणां मांडे छे, अने छत्र धरे छे। तेवो चमत्कार देखी लोको त्यां मानता राखे छे। जे थी तेमना कार्यो फल-दायक थाय छे। देरासर अनुत्तर विमान नां आकारे छे। मूलमंदिर मां चिंतामणि पार्श्वनाथ छे। ऊपर सहस्रफणा, पार्श्वनाथ नी श्याम मूर्ति छे। तेमनी आंगी पचास हजार नी छे। राजा गजसिंहजीए हीरो चढाव्यो छे, रूपाना कमाड कराव्यां हतां, ते चोर चोरी गया, तेओ आंधला थई जेसलमेर मा आव्या।"

" अष्टापद उपर पांच हजार खर्ची ने कल्पवृक्ष बनावेल छे। अष्टापद नी रचना त्यां करवामां आवी छे, अने तेनी उपर कल्पवृक्ष छे, ते पांच कोश दूर थी देखाय छे।" अस्तु।

इसके बाद विक्रम संवत् १९७८ में रत्नश्रीजी महाराज साहब का फिर फलोधी में चातुर्मास हुआ। चातुर्मास के बाद यहीं की रहनेवाली राधाबाई नामक श्राविका ने श्रीमहाराज साहब के उपदेश से प्रभावित होकर दूसरा जेसलमेर का संघ[1]

---

१ साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चारों के समुदाय को संघ कहते हैं। इस संघ को कोई व्यक्ति तीर्थयात्रा के लिये ले जाये, उसे भी संघ कहते हैं। तीर्थ-यात्रा में कभी कभी एक या दो समाज कम भी रहते हैं। किसी संघ में साधु और साध्वी इन दो समाज में से एक ही समाज रहता है। किसी संघ में श्रावक और श्राविका दोनों में से एक ही रहता है।

निकाला। यह संघ पहले की बनिस्बत बहुत बड़ा और बड़ी धूम-धाम से निकाला गया था। इस संघ में लगभग दो हजार आदमी और औरतें थीं। सामान वगैरह के लिये साथ में तीन सौ गाड़ियें और अस्सी ऊंट थे। संघ में श्रीघेवरमुनिजी और श्रीहरिसागरजी वगैरह साधु-मुनिराज साथ थे।

संवत् १९८३ में श्रीमहाराज साहब का चातुर्मास आहोर (मारवाड़) में हुआ। वहां पर इनके उपदेश से प्रभावित होकर वहां के श्रीसंघ की तरफ से दस अठाई[1]-महोत्सव लगातार मनाये गये। साधर्मी-वात्सल्य[2] भी हुए। समस्त चातुर्मास में मंदिरजी में अंग-रचना और भक्ति हुई। उस समय बाहर के लोग भी श्रीमहाराज साहब के दर्शनों के लिये अधिक संख्या में आये थे। उस अवसर पर श्रीमंदिरजी के भांडार में दो हजार रुपये की आमदनी हुई।

बाद में वहां पोरवाड़ गुलाब बाई की तरफ से बीस-स्थानकजी का उजमना बड़ी धूम-धाम से हुआ।

संवत् १९८६ में महाराज साहब का चातुर्मास जावरा में हुआ। वहां इन्होंके उपदेश से भोपाल-निवासी श्रीयुत

---

१ आठ दिन तक मंदिर में पूजा और भक्ति करने को अठाई महोत्सव कहते हैं।

२ कोई रसोई करके साधर्मी भाइयों को भोजन कराने को साधर्मी-वात्सल्य कहते हैं। मालुम होता है, पारस्परिक संगठन और प्रेम की वृद्धि होना इसका उद्देश्य है।

ताराचंदजी डोसी नें पांच सौ रुपये की लागट का पालना बनवा कर श्रीसंघ को समर्पित किया और श्रीसंघ की तरफ से चांदी के चौदह स्वप्न बनवाये गये। श्रीपर्यूषण पर्व में हाथी पर श्रीकल्पसूत्र का वरघोड़ा निकला।

संवत् १९८७ और १९८८ में इनके लगातार दो चातुर्मास महीदपुर में हुए। प्रथम चातुर्मास में अठाई-महोत्सव हुआ और वाहर गांव वालों की तरफ से चांदी के चौदह स्वप्न एवं पालना वना।

दूसरे चातुर्मास में वड़े धूम-धाम से अठाई-महोत्सव हुआ और वड़ा-भारी वरघोड़ा निकला। उस समय भंडार में पांच सौ रुपये की आमदनी हुई। श्रीहीराश्रीजी महाराज की दीक्षा इसी समय हुई थी, जिसका वर्णन आगे के प्रकरण में होगा।

संवत् १९८९ में श्रीमहाराज साहव की अध्यक्षता में इटारसी में श्रीहेमराजजी मूनत नें श्रीनवपदजी का उजमना वड़े धूम-धाम से किया। इस वर्ष महाराज साहव का चातुर्मास भी यहीं हुआ।

इसके वाद श्रीमहाराज साहव नें संवत् १९९० और १९९१ में लगातार दो चातुर्मास भोपाल में किये। प्रथम वर्ष तीन नवपदजी के उजमने हुए—एक तो श्रीयुत अमीचंदजी कांस्ट्या की तरफ से, दूसरा श्रीयुत ताराचंदजी डोसी की तरफ से और तीसरा श्रीयुत अंवालालजी डोसी की तरफ से हुआ। तीनों ही उजमने वड़े धूम-धाम से हुए, लेकिन उनमें प्रथम

उजमना विशेष उल्लेखनीय है। सुनते हैं, उसमें चालीस हजार रुपये खर्च हुए थे, और माहिने-भर पहले से ही बड़ी दूर-दूर से बहुत बड़ी तादाद में लोग आने लगे थे। तीनों ही उजमनों में पूजा, भक्ति एवं साधर्मी-वात्सल्य हुए थे।

दूसरे वर्ष श्रीयुत अमीचंदजी कांस्ट्या की तरफ से मंडोदाजी का, जो कि साजापुर से २४ माईल है, संघ निकला। वही संघ मकसीजी तक आया।

मालवे में मकसीजी तीर्थ बड़ा प्रसिद्ध है। इसका वर्णन जैन-तीर्थ-माला में इस प्रकार है—

"मकसीजी पार्श्वनाथ नी मूर्ति देरासर नीचे भोंयरामां थी प्रकट थई हती। ते वखते त्रण हजार माणसो एकठां थया हता। मालवा मां मकसीजी गाम मां तेमनुं घणुंज मोटुं भव्य देरासर छे। लाखो नां खरचे ते बधावेलुं छे। तेनो घुमट घणोज ऊंचो छे। देरा मां मानभद्र अति चमत्कारिक छे। ते मकसीजी मां संवत १९१४ मां गोड़ीजी पार्श्वनाथ निकल्या हता। ते जगा देरा पाछल बाग मां छे। त्यां देरीओ करावी तेमां तेमनां पगलां स्थापेला छे। मकसीजी पार्श्वनाथनी प्रतिमा वेलु नी छे। गोड़ीजी पार्श्वनाथ नीकल्या, ते वखते मोठो संघ एकठो थतां तेमां त्रण लाख माणसो भेगा थयां हता। प्रतिमाजी ग्यारह दिवस प्रकट रही अदृश्य थया हतां, जे थी तेमनां पगलां पधराव्या छे। अहीं बावन जिनालय नुं देरासर छे।"

बाद में श्रीमहाराज साहब के उपदेश से भोपाल में वहीं

के निवासी श्रीयुत गौड़ीदासजी भंडारी नें श्रीसिद्धाचलजी का एक पट बनवाया। अभी उसकी प्रतिष्ठा नहीं हुई है, सुना है, वह यथासंभव शीघ्र ही होनेवाली है।

महीदपुर में भी इनके उपदेश से दो पट—एक तो श्रीसिद्धाचलजी का और दूसरा श्रीसंमेतशिखरजी का बना। इनमें प्रथम पट वहीं के निवासी श्रीयुत केसरीमलजी चोपड़ा की तरफ से और दूसरा पट भी वहीं के निवासी स्वर्गीय श्रीयुत मानकलालजी बच्छावत की धर्मपत्नी श्रीमती रतनबाई की तरफ से बना। दोनों की प्रतिष्ठा क्रम से संवत् १९९६ के वैशाख सुदि पंचमी और एकादशी को हुई। अभी दोनों में ही रंग करवाना और अठाई-महोत्सव होना बाकी है। सुनते हैं, दोनों ही कार्य यथासंभव शीघ्र होनेवाले हैं।

संवत् १९९४ में इनके उपदेश से महीदपुर के स्वर्गीय मानकलालजी बच्छावत की धर्म-पत्नी श्रीमती रतनबाई नें श्रीमांडवजी का संघ निकाला। उसमें लगभग देढ़ सौ के मनुष्य और स्त्रियें थीं। इसमें श्रीआनंदसागरजी महाराज साहब आदि साथ थे। सामान वगैरह ढोने के लिये करीब पन्द्रह गाड़िएँ थीं। यही संघ मांडवजी से भोपावर तक भोपाल-निवासी श्रीयुत अमीचंदजी कांस्ट्या की तरफ से ले जाया गया। भोपावर भी मांडवजी से कुछ दूर पर स्थित एक जैन-तीर्थ है।

मांडवजी मालवा में जैनियों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। मांडवजी का दुर्ग बहुत लंबा-चौड़ा एवं प्राचीन है। वहां पर

वहुत-सी ऐतिहासिक वस्तुएं देखने लायक हैं ।

· मांडवजी का वर्णन जैन-तीर्थ-माला में इस प्रकार दिया हुआ है—

"मांडवगढ़ नो पहाड़ त्रण वलय ना आकारे खाई समेत किल्लानी माफक घेरायलो छे । ए खाई मां चित्रावेल छे । भाग्यशाली होय ते देखी शके छे । पहाड़ ऊपर वस्ती छे, बाजार छे । त्यां भैंसाशाह नुं करावेलुं देरासर घुमटबंध घणां मोटा विस्तारवालुं छे । तेंमां मोटी सोनानी मूर्ति सोलहवां शांतिनाथ नी छे ।"

"गुजरी गांव थी पांच गाऊ पहाड़ ऊपर तीर्थ आवेलुं छे, पहाड़ नी चढ़ाई अढ़ाई गाऊ नी छे । पहाड़ ऊपर जुनो कोट छे, त्यां मांडवगढ़ गाम छे । धार ना राजा ने स्वप्नु आपी ने सुपार्श्वनाथ भगवान नी मूर्ति प्रकट थई । आ मूर्ति रामचंद्र ना बनवास बखते सीताए रामचद्र ने पूजवा बनावी हती । ते छाणवेलुं नी मूर्ति सती ना प्रभावे वज्रमय थई गई । मांडवगढ़ नी हाल नी मूर्ति धातुमय छे । ते अकबर बादशाह ना प्रधान टोडरमले भरावी छे । मालवा मां मांडवगढ़ तीर्थ नी जाहोजलाली प्रथम सारी गणाती । टोडरमले संवत १५४७ मां मूर्ति भरावेली, आ मूर्ति नी बाजुए बन्ने तरफ श्रीपार्श्वनाथ नी मूर्तिओ छे ।"

'संवत् नी तेरवी अने चौदमी सदी मां मांडवगढ राज्यधानी तरीके अने मालवानी लावण्यता नुं अपूर्व केंद्र-स्थान गणातुं

हतुं । त्यां एक लाख लाखोपति रहेता हता । तेमज साडा सात सौ जैन-मंदिरो हता । सात सौ महादेव नां देवालय हतां । शहर नो विस्तार लगभग बारा कोश मां फेलायेलो हतो । अहींयां कोई गरीब श्रावक आवतो, त्यारे तेने एक लाख लख-पतिओ एकेक रुपयो आपता अने एक ईंट आपता, जे थी आव-नार पण लखोपति थतो अने ईंटों थी हवेली बनावी ते पण शाहुकार बनी जतो । भैंसाशाह, पेथडकुमार तेमज झांझणकुमार मांडवगढ मां महासमर्थ दानवीर थया छे । ”

“ हाल मां ते गाम उज्जड थई गयुं छे । त्यां एक वैष्णव मंदिर ने एक महादेव नुं मंदिर छे । बीजी मस्जिदो तेमज राज-महेलो खंडेर हालत मां हवा खाय छे । आ शहर ने मंडपदुर्ग पण कहे छे । ”

भोपाल चातुर्मास के बाद विहार करती हुई श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब साजापुर गई । वहां इनकी अध्यक्षता में वहां के निवासी श्रीयुत प्रेमचंदजी भांडावत ने ज्ञानपंचमीव्रत का उजमना किया । उसी समय वहीं के निवासी श्रीयुत केसरी-मलजी भांडावत ने मंडोदाजी का संघ निकाला । यह श्रीमहा-राज साहब के उपदेश का ही फल था ।

विक्रम संवत् १९९२ से १९९५ तक लगातार इनके चार चातुर्मास महीदपुर में हुए । इस समय में इनके उपदेश से महीदपुर श्रीसंघ में कई उपकरण बने । इनके महीदपुर आने के पहले महीदपुर के संघ में एक भी उपकरण की वस्तु

नहीं थी। अभी जो भी चांदी के उपकरण हजारों रुपये की लागट के दृष्टिगोचर होते हैं, यह सब श्रीमहाराज साहब के ही उपदेशों का प्रभाव है। इसी समय में महीदपुर में दो हजार रुपये की लागट की एक वेदीजी बनी। इन्द्रध्वजाएं, चांदी की ध्वजाएं, त्रिगड़ा, चांदी के बरतन, चांदी का घोटा, चपरासें वगैरह कई चीजें भविष्य में श्रीमहाराज साहब की स्मृति श्रीसंघ को दिलाती रहेगी। इस महान् उपकार के लिये महीदपुर के श्रीसंघ को श्रीमहाराज साहब का पूर्ण कृतज्ञ होना चाहिये। श्रीमहाराज साहब के महीदपुर पधारने से यहां की पौषध-शाला और श्रीमंदिरजी का भी संतोष-जनक सुधार हुआ है।

इसी समय में इनके उपदेश से महीदपुर में वहीं के निवासी स्वर्गीय श्रीयुत मानकलालजी बच्छावत की धर्मपत्नी श्रीमती रतनबाई नें अपना एक मकान श्रीखरतरगच्छ-श्रीसंघ को अर्पण किया और एक बड़ा नोरा—बड़ा मकान गौशाला को अर्पित किया।

श्रीमहाराज साहब के महीदपुर में विराजमान होने से वहां के श्रीसंघ को आतिथ्य-सत्कार एवं साधर्मी भाइयों के दर्शनों का अपूर्व मौका मिला। सुनते हैं ऐसा मौका श्रीसंघ को पहले कभी नहीं मिला था। महीदपुर के श्रीसंघ के इति-हास में यह अभूतपूर्व बात है। इनके दर्शनार्थ हर समय बाहर गांव के बड़ी दूर-दूर (बंबई, कलकत्ता, करांची, बीकानेर, जयपुर, फलोधी आदि) के श्रावक और श्राविकाएं महीदपुर में

आया ही करती हैं। इस प्रकार आतिथ्य-सत्कार और साधर्मि-भक्ति का अवसर प्राप्त होना महीदपुर के श्रीसंघ का बड़ा-भारी सौभाग्य है। वास्तव में, ये चार वर्ष श्रीमहाराज साहब के विराजमान रहने से महीदपुर श्रीसंघ के लिये अपूर्व एवं बड़े पुण्य के कारण रहे हैं। स्थानीय सज्जनों की बड़ी प्रार्थना एवं बड़े प्रयत्न से संवत् १९९६ का चातुर्मास भी इनका महीदपुर में ही हुआ है। अपनी पूर्ण वृद्धावस्था और स्वास्थ्य की उग्र खराबी के कारण श्रीमहाराज साहब चार वर्ष से महीदपुर में ही विराजमान हैं। ऐसी साध्वीजी का योग महीदपुर श्रीसंघ को बड़े पुण्य से ही मिला है।

इन्हीं चातुर्मासों में श्रीमहाराज साहब के उपदेश से गंगधार (माळवा) में एक प्रतिमाजी का विलेपन हुआ। यह प्रतिमाजी रेत की बनी हुई और बहुत दिनों से ऐसी ही रखी हुई थीं। प्रतिमाजी बड़ी मनोमोहक, रमणीय, और श्रीकेसरियाजी तीर्थ की प्रतिमाजी के सदृश है। कहते हैं—प्रतिमाजी बड़ी चमत्कारिणी हैं। कुछ श्रावकों की प्रार्थना से श्रीमहाराज साहब का विचार गंगधार में बाहर के यात्रियों के लिये सुविधा की तरफ है। यदि वहां धर्मशाला होजाए और साल-भर में एक मेला भरने लगे, तो उस मौके पर बाहर के यात्रियों को भी दर्शनों का और वहां रहने का बहुत सुभीता हो। बाहर के लोगों को भी ऐसी चमत्कारिक प्रतिमाजी के दर्शन होना बड़े पुण्य का ही कारण होगा।

उपदेशों से हुई दीक्षाएं

संघ और तीर्थ शब्द जैन-समाज में पारिभाषिक हैं। दोनों का ही समान अर्थ है, दोनों पर्यायवाची हैं। इनका अर्थ होता है—चार प्रकार का समाज; साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। हर एक तीर्थंकर इस संघ को या तीर्थ को स्थापित करता है और प्रवृत्त करता है, इसीलिए उनका नाम तीर्थंकर पड़ा है। तीर्थंकर याने तीर्थ को स्थापित कर प्रवृत्त करनेवाले। अभी हम-लोग जिस तीर्थ या संघ में हैं, वह भगवान् महावीर का स्थापित एवं प्रवृत्त किया हुआ है। अतः हम-लोग इस समय धार्मिक जगत् में भगवान् महावीर के शासन में हैं।

संसार में सभी क्षेत्रों में व्यवस्था के लिये यह आवश्यक है कि योग्य-व्यक्तियों में योग्य-कार्यों को विभाजित कर दिया जाय। हर एक क्षेत्र में अलग-अलग कार्यों का उत्तरदायित्व अलग-अलग योग्य व्यक्तियों के कंधों पर डालना ही पड़ता है। यदि यह कार्य-विभाग न किया जाय तो हर एक कार्य संसार में अस्त-व्यस्त एवं अव्यवस्थित होजाए। प्रत्येक कार्य में प्रत्येक

मनुष्य एक दूसरे के भरोसे पर रह जाए और इस प्रकार कार्य ही न होने पाए। कार्य-विभाग न करने से मानव-शक्तियें भी पूर्ण विकसित न होने पाएँगी और उनका पूर्ण सदुपयोग भी न हो सकेगा।

शासन-क्षेत्र में देखिये, इसका स्पष्टीकरण अच्छी तरह हो सकता है। न्याय-विभाग को लीजिए, योग्य मनुष्यों को मजिस्ट्रेट, जज, चीफ-जज आदि पदों का उत्तरदायित्व दिया जाता है। इस कार्य-विभाजन-प्रणाली का अवलंबन इसीलिए लिया जाता है कि व्यवस्था में किसी प्रकार भी त्रुटि न आए और कार्य सुचारु रूप से चलता रहे।

प्राचीन-समय में—वैदिक-काल में कहिये या आदि-काल में—वर्ण-विभाग या वर्णाश्रम की स्थापना करने का भी यही ध्येय था। समाज का कार्य सुव्यवस्थित एवं सुचारु रूप से चलता रहे, समाज में पारस्परिक प्रेम एवं संगठन अच्छी-तरह बना रहे और समाज के कार्यों में किसी प्रकार की त्रुटि न होने पाए, इसीलिए वर्णाश्रम की व्यवस्था की गई थी। इसी तरह जैन-धर्म का रथ सुव्यवस्थित एवं अबाध रूप से उन्नति के पथ पर सर्वदा अग्रसर होता रहे, इसीलिए—इसी उद्देश्य से, इसी ध्येय से, तीर्थंकरों ने तीर्थ की स्थापना की, यानें समाज के प्रथमतः चार विभाग किये। उनमें श्रावक और श्राविका, इन दो समाजों को गार्हस्थ्य की यानें सांसारिक क्षेत्र में समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से अलग स्थापित

किया और उनको आध्यात्मिक उन्नति करने के लिये अलग मार्ग बतलाया। साधु और साध्वी-समाज को धर्म की रक्षा, उन्नति, अभिवृद्धि एवं प्रचार के लिये, मनुष्यों को आध्यात्मिक उन्नति का सत्पथ बतलाने के लिये और धर्म का निरंतर उपदेश देकर उनकी धर्म-पिपासा एवं ज्ञान-पिपासा को शांत कर देने के लिये स्थापित किया। भगवान् नें इन उपर्युक्त बातों का उत्तर-दायित्व भी साधु और साध्वी-समाज के कंधों पर डाला। साधु और साध्वी-समाज की स्थापना का उद्देश्य यही था और इस ही की सिद्धि के लिये भगवान् नें उनको चौवीसों घंटों का समय देने की व्यवस्था की कि वे उपर्युक्त ध्येय को पूर्ण करते रहें तथा समाज के लिये आदर्श बने रहें या आदर्श बनने और बनाने का प्रयत्न करते रहें, तथा इसीलिए उनको अपने शरीर की और उसके पोषण की आवश्यकताओं की पूर्ति के भार से सर्वथा पृथक् रख कर वह भार अवशिष्ट दो समाज—गृहस्थ-समाज (श्रावक और श्राविका) के कंधों पर रखा।

हमारी चरित्र-नायिका श्रीरत्नश्रीजी इस तीर्थ-स्थापना के उच्च आदर्श एवं उच्च ध्येय को अच्छी तरह समझती थीं। इसका परिचय हमें इनके जीवन से अच्छी तरह मिलता है। इसका कुछ परिचय हम ऊपर के प्रकरणों में दे चुके हैं। इन्होंनें अपने जीवन में जिन-जिन मनुष्यों एवं स्त्रियों को वैराग्य की ओर झुका कर साधुत्व की ओर अग्रसर होने के लिये दीक्षित किया, उनको भी इसी ध्येय से और इसी ध्येय को समझा कर।

आधुनिक समय में जो लड़के और लड़कियों को बातों में फंसा कर जबरन साधुत्व की ओर अग्रसर होने के लिये दीक्षित किया जाता है—दीक्षाएं दी जाती हैं, उनकी ये सदा विरोधिनी रही हैं। ये जानती थीं और जानती हैं कि इस प्रकार जबरन साधुत्व के पथ पर चलने के लिये फंसाया हुआ व्यक्ति बिना वैराग्य की भावना के किस प्रकार सुचारु रूप से भगवान् के ध्येय को अक्षुण्ण रखते हुए उस पथ पर चल सकेगा और संसार की आपाततः मधुर एवं आकर्षक वस्तुओं से मुग्ध तथा आकृष्ट होकर उस पुनीत पथ को कलंकित न करेगा। आधुनिक सामाजिक एवं धार्मिक अवनति और अव्यवस्था का भी यही कारण है कि उत्तरदायित्व एवं भगवान् के उद्देश्य की रक्षा की भावना से रहित व्यक्ति इन समाजों में प्रविष्ट हो गये हैं, इस बात को भी ये अच्छी तरह समझती थीं और समझती हैं। इसी भावना को अक्षुण्ण रखते हुए इन्होंने मनुष्य और स्त्रियों को साधुत्व के पथ पर चलने के लिये दीक्षित किया।

इस प्रकार इनकी दीक्षा-संबंधी विचारों की विवेचना करके अब हम—इन्होंने किन-किन व्यक्तियों को और कब इस पथ की ओर अग्रसर किया—इसका विवेचन करेंगे।

विक्रम संवत् १९५२ से १९५४ तक लगातार इनके तीन चातुर्मास फलोधी में हुए। इनमें दूसरे चातुर्मास के बाद इनके उपदेश से एक औरत ने दीक्षा ली। उनका नाम

' टीकमश्रीजी ' रखा गया ।

तीसरे चातुर्मास में श्रीमहाराज साहब के उपदेश से वहीं की रहने वाली बारह औरतों नें चारित्र-ग्रहण किया । उनके नाम ' सौभाग्यश्रीजी, ज्ञानश्रीजी, हीरश्रीजी, उल्लासश्रीजी, मानकश्रीजी, देवश्रीजी........' आदि रखे गये ।

विक्रम संवत् १९६४ के चातुर्मास के बाद इनके उपदेश से वैराग्यान्वित हुई चार औरतों नें, जिनमें एक सास, एक बहू और उसकी दो कुमारी कन्याएं थीं, दीक्षा ली । उनके नाम 'मौनश्रीजी, रेवंतश्रीजी, जीवनश्रीजी, और कमलश्रीजी' रखे गये । इन्हींनें दीक्षा लेने के पूर्व फलोधी से जेसलमेर और लोद्रवाजी के लिये औरतोंका संघ निकाला था । इसका जिक्र ऊपर के प्रकरण में आ चुका है ।

विक्रम संवत् १९६५ के जावरा चातुर्मास के पहले श्रीमहाराज साहब रतलाम पधारे । वहां जयपुर की रहने वाली, इनके उपदेश से विरक्त ज्ञानबाई नामक श्राविका नें चारित्र अंगीकार किया । उनका नाम ' गंभीरश्रीजी ' रखा गया । उस समय पुण्यश्रीजी महाराज साहब भी हमारी चरित्र-नायिका के साथ रतलाम में विराजमान थे ।

विक्रम संवत् १९७३ में हमारी चरित्र-नायिका रत्नश्रीजी महाराज साहब का चातुर्मास आहोर में हुआ । उस समय इनके उपदेश से वहां की रहने वाली दो औरतें वैराग्य के परिणामतः सुंदर, किन्तु कठिन मार्ग की ओर अग्रसर हुईं ।

चातुर्मास के बाद उनकी दीक्षाविधि संपन्न हुई। साधुत्व के पवित्र पथ की ओर आने के बाद उनके नाम 'प्रीतिश्रीजी' और 'जोरावरश्रीजी' रखे गये। ये दोनों ही श्रीमहाराज साहब की सेवा में अभी तक विद्यमान हैं।

विक्रम संवत् १९७४ के जयपुर चातुर्मास के बाद अजमेर की तरफ विहार करती हुई श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब अकबरी, जो कि आहोर से पांच कोस दूर पर एक गांव है, गये। वहां इनके उपदेश से विरक्त एक औरत ने, जो कि विरक्त होकर कुछ समय से इनके साथ घूम रही थी, दीक्षा ली। उनका नाम 'गीतार्थश्रीजी' रखा गया। इसके कुछ समय पूर्व उनके एक पुत्र ने श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब और इनके गुरु श्रीविवेकश्रीजी महाराज साहब के उपदेश से वैराग्यान्वित होकर ग्यारह वर्ष की आयु में श्रीआनंदसागरजी महाराज साहब के पास दीक्षा अंगीकार की थी। उनका नाम 'महेन्द्रसागरजी' रखा गया था।

इसके कुछ समय बाद इनके उपदेश से जालोर में एक औरत विरक्त होकर साधुत्व के पुनीत पथ की पथिका बनी। उनकी दीक्षा-विधि जालोर में ही संपन्न हुई। उनका नाम 'सिद्धार्थश्रीजी' रखा गया। इसके कुछ समय पूर्व ही वहीं एक औरत ने और भी दीक्षा ली थी। उनका नाम 'आगमश्रीजी' रखा गया था। यह भी श्रीमहाराज साहब के ही उपदेशों का प्रभाव था।

विक्रम संवत् १९७७ के पालिताना के चातुर्मास के बाद एक मनुष्य नें श्रीमहाराज साहब के उपदेश से वैराग्यान्वित होकर जयपुर में श्रीहरिसागरजी महाराज साहब के पास दीक्षा स्वीकार की। उनका नाम 'कवीन्द्रसागरजी' रखा गया। सुनते हैं, श्रीकवीन्द्रसागरजी महाराज 'यथा नाम तथा गुणाः' इस न्याय के अनुसार कविता भी अच्छी करते हैं। श्रीमहाराज साहब के ही उपदेश से वे इस पथ के पथिक बने हैं। इसलिए वे अभीतक श्रीमहाराज साहब के प्रति पूर्ण कृतज्ञ हैं।

विक्रम संवत् १९८० में श्रीमहाराज साहब नें बीकानेर में चातुर्मास किया। उस समय इनके वैराग्यमय उपदेश से प्रभावित होकर तीन औरतें संसार से विरक्त हुईं, उनमें दो तो माता और पुत्री थीं। चातुर्मास के बाद उनकी दीक्षा-विधि संपन्न हुई। उनके नाम क्रमशः 'सुव्रतश्रीजी, देवेन्द्रश्रीजी और जसवंतश्रीजी' रखे गये। इनमें जसवंतश्रीजी महाराज अभी महाराज साहब की सेवा में ही विद्यमान हैं और हर वक्त उनकी सेवा के लिये कटिबद्ध रहती हैं।

विक्रम संवत् १९८८ में महीदपुर में एक गंगधार की रहने वाली औरत की बड़ी धूम-धाम से दीक्षा हुई। वे श्रीमहाराज साहब के साथ इनके उपदेश से विरक्त होकर दीक्षा के लिये अपने पति की आज्ञा न मिलने के कारण छह वर्ष से घूम रही थीं। श्रीमहाराज साहब का यह सिद्धान्त था कि जबरन

किसे भी दीक्षित न किया जाय। यद्यपि रतनबाई का (यही उनका गृहस्थाश्रम का नाम था) हृदय वैराग्य की उत्कट तरंगों से आंदोलित होरहा था, लेकिन अपने पति की संमति न मिलने से वे श्रीमहाराज साहब के साथ ही रहकर अपनी वैराग्य की भावना को और भी दृढ़ बना रही थीं। आखिरकार श्रीमहीदपुर के संघ के स्तुत्य प्रयत्न से संवत् १९८८ में उनके पति नें पांच सौ रुपये लेकर उनको दीक्षा के लिये अनुमति प्रदान की। अनुमति मिलने के दूसरे ही दिन से उनके बनोले फिरने शुरु हुए और बाद में चन्द्रबाग में उनकी दीक्षा-विधि संपन्न हुई। उनका नाम हीराश्रीजी रखा गया। संवत् १९९६ की वैशाख सुदि तृतीया को प्रतापगढ़ में श्रीआनंदसागरजी महाराज साहब के कर-कमलों से उनकी बड़ी दीक्षा हुई। वे भी श्रीमहाराज साहब के साथ उनकी सेवा के लिये हर समय रहती हैं।

विक्रम संवत् १९९६ में वैशाख सुदि सप्तमी को महीद-पुर में वहीं के निवासी स्वर्गीय मानकलालजी बच्छावत की धर्मपत्नी रतनबाई नें श्रीमहाराज साहब के कर-कमलों से छत्री-बाग में यथाविधि दीक्षा अंगीकार की। उनका नाम 'रण-जीतश्रीजी' रखा गया और वे श्रीप्रसन्नश्रीजी महाराज साहब की शिष्या बनाई गई। यद्यपि रतनबाई लगभग दो वर्ष से संसार से विरक्त थीं, लेकिन फिर सांसारिकता में फँस जाने के कारण अपनी भावना को सफल न कर सकी थीं। रतनबाई के

वैराग्य की उत्पत्ति में भी श्रीमहाराज साहब का उपदेश कारण था। इस कार्य में श्रीमहाराज साहब की शिष्या देवश्रीजी, जिन का वर्णन ऊपर आचुका है, के उपदेश से विरक्त और दीक्षित श्रीप्रसन्नश्रीजी महाराज साहब का भी पूर्ण सहयोग रहा।

आध्यात्मिक तेज और प्रभाव

संसार में आध्यात्मिक क्षेत्र में हम जिन-जिन महान् आत्माओं को देखते हैं, उनके जीवन का अवलोकन करने से हमें उनके आत्मिक तेज एवं शक्तियों का चमत्कार-पूर्ण प्रभाव अवश्यमेव देखने को मिल जाता है। साधना एवं योग-शक्ति से उनको कई सिद्धियें प्राप्त होती हैं। भगवान् हेमचन्द्राचार्य को देखिये, श्रीसिद्धसेन दिवाकर पर दृष्टि-पात करिये, दादासाहब श्रीजिनदत्तसूरिजी के जीवन का अवलोकन करिये और आधुनिक कलिकाल के युग में भी आत्मिक उन्नति पर पहुंचे हुए महात्माओं को दृष्टिगोचर करिये, सर्वत्र आपको उनकी अपूर्व विकसित आत्मिक शक्ति एवं तेज का चमत्कारिक प्रभाव प्रतीत होगा। उनके आत्मिक तेज, शक्ति एवं सिद्धियों की प्राप्ति या विकास साधना से ही होता है। हमारी चरित्र-नायिका श्रीरत्नश्रीजी महाराज के जीवन पर भी दृष्टि डालने से हमें उनके आत्मिक तेज एवं प्रभाव का कुछ परिचय अवश्य मिलता है। बहुत वक्त इनकी वाणी की सार्थकता देखी गई है। कई जगह इनके भगवन्नाम श्रवण कराने

का भी बड़ा अच्छा प्रभाव प्रत्यक्ष किया गया है। बहुत बार इनकी उपस्थिति-मात्र से शांति होती हुई देखी गई है। इस प्रकरण में हमें इसी विषय पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करना है।

एक समय श्रीमहाराज साहब ने नये शहर में चातुर्मास किया। यह बात विक्रम संवत् १९८२ की है। चातुर्मास के बाद ये वहां से जयपुर के लिये विहार करना चाहती थीं, लेकिन स्वास्थ्य के अत्यंत खराब होने के कारण इनको वहीं रुकना पड़ा। उस समय ये गांव के बाहर एक बगीचे में ठहरी हुई थीं। इसका कुछ जिक्र ऊपर के प्रकरण में आचुका है।

उस समय इनके साथ की साध्वियों नें बड़ी-बड़ी तपस्याएं की थीं। एक दिन इनके साथ वाली राधाबाई नामक श्राविका, जो कि फलोधी की रहनेवाली थीं, लेकिन उस समय श्रीमहाराज साहब के साथ ही घूम रही थीं, के मन में यह विचार आया—

"बड़े दुःख की बात है कि हम-लोग यहां जंगल में पड़े हैं, इस समय इतनी बड़ी-बड़ी तपस्याओं के अवसर पर किसी बड़े शहर में होते तो कितनी अच्छी जैन-धर्म की प्रभावना होती!"

ये सब विचार राधाबाई नें श्रीमहाराज साहब को सुनाये। महाराज साहब नें कहा—

"यदि शासन-देवता की कृपा हुई तो जंगल में भी मंगल हो जावेगा।"

उसी दिन रात्रि में श्रीमहाराज साहब ने स्वप्न देखा— "यहां हाथी वगैरह के साथ रथयात्रा बड़ी धूम-धाम से निकली। पूजा एवं जैन-धर्म की प्रभावना बड़ी अच्छी हुई और बाद में एक बड़े श्रावक का लड़का मरगया"।

प्रातःकाल उठकर श्रीमहाराज साहब नें अपने स्वप्न का सारा हाल साथ की सब साध्वियों और राधाबाई को सुनाया। इतने ही में नये शहर के कुछ प्रमुख श्रावक-लोग आये और श्रीमहाराज साहब से विनति करने लगे कि यहां श्रीभगवान् को को विराजमान करें, यहीं अठाई-महोत्सव मनाया जाय और यहीं से रथयात्रा निकले। श्रीमहाराज साहब की अनुमति मिलने पर उन्होंनें बड़ी धूम-धाम से वह उत्सव मनाया।

प्रिय पाठकवृन्द! वे श्रावक-लोग पहले कभी भी यहां श्रीमहाराज साहब के दर्शनों के लिये नहीं आये थे। केवल उसी दिन उत्सव मनाने के विचार से आये। इसका कारण आप चाहे श्रीशासन-देवता का प्रभाव या अनुग्रह कह सकते हैं, लेकिन इसमें भी श्रीमहाराज साहब का आत्मिक तेज अवश्य वर्तमान था। उसके बिना शासन-देवता का अनुग्रह होना भी असंभाव्य था। इनके वे वाक्य, जो कि राधाबाई को कहे गये थे, शीघ्र सफल हुए। महापुरुषों के वचन कभी भी व्यर्थ नहीं जाते। कहा भी है—"साधारण मनुष्यों के वचन अर्थों का अनुसरण करते हैं, लेकिन महापुरुषों के वचनों का अर्थ

अनुसरण करते हैं[1]।" श्रीमहाराज साहव के वचनों की यह शक्ति वाद में भी कई लोगों नें देखी है।

रथयात्रा के दिन एक वड़े गुजराती सेठ का, जो कि वड़े अच्छे श्रावक थे, पुत्र सख्त वीमार था और मृत्यु-शय्या पर पड़ा था। वह दूसरे दिन सवेरे ही मर गया। इस प्रकार श्रीमहाराज साहव का उपर्युक्त स्वप्न अक्षरशः सफल हुआ।

विक्रम संवत् १९७९ में श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहव का फलोधी में चातुर्मास हुआ। वहां एक कंवरलालजी वरडिया नामक श्रावक थे। उस समय उनकी आयु पांच वर्ष की थी। जव श्रीमहाराज साहव का वहां चातुर्मास था, तव वे एक समय वहुत सख्त वीमार होगये। एक दिन तो वे विलकुल मरणासन्न होरहे थे, कुछ श्वास निकलना और वाकी था। उस दिन दोपहर को श्रीमहाराज साहव एकासना करने के लिये वैठ ही रहे थे कि कंवरलालजी की दादी श्रीमहाराज साहव के पास आई और कहने लगीं—"मेरा एक-मात्र पौत्र मर रहा है। आप कृपा करके कुछ मांगलिक शब्द सुना आएंगें तो शायद उसको कुछ लाभ हो। हम-लोगों नें तो सव तरफ से आशा छोड़ दी है।"

श्रीमहाराज साहव भी महत्त्व का समय (Critical time) जान

---

१ "लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते;
ऋषीनां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुवर्तते।"

—महाकवि भवभूति।

गोचरी करना[1] छोड़ कर वहां गये। इतने समय में कंवरलालजी को पेशाव[2] आया था और वे मुर्दे के समान होगये थे। घर में रोना-पीटना भी शुरू होगया था। जब महाराज साहब वहां पधारे, तब कंवरलालजी की दादी नें सब हाल देखकर श्रीमहाराज साहब से निवेदन किया—"साहब, अब आप क्या मांगलिक शब्द सुनाएंगे, अब तो यह मर चुका है। पहले भी एक लड़के की लघुनीत द्वारा मृत्यु होगई थी, उसी प्रकार इसकी भी मृत्यु होगई दिखती है। अब इसको सुनाने से क्या लाभ होगा ?" यह कह कर वह भी रोने और सिर पीटने लगी।

यह हृदय-द्रावक एवं रोमांचकारी दृश्य देखकर श्रीमहाराज साहब का हृदय पसीज गया। इन्होंनें सब को रोने-पीटने से रोका और उनको कुछ समय तक धैर्य धारण करने के लिये कहा। कंवरलालजी को मुर्दे के समान देखकर श्रीमहाराज साहब नें उनके कान में कुछ मांगलिक शब्द सुनाये और सब व्रत-प्रत्याख्यान करवा कर वापस उपाश्रय में लौट आये।

उन मांगलिक शब्दों के सुनने का ऐसा प्रभाव हुवा कि कुछ समय में ही कंवरलालजी को चैतन्य होआया और वे बोलने-चालने लगे। यह देखकर उनकी दादी श्रीमहाराज साहब को यह शुभ समाचार सुनाने को आई। उस समय

---

१ गोचरी करना=आहार करना—भोजन करना। यह जैन साधुओं में पारिभाषिक रूप से प्रसिद्ध शब्द है।

२ पेशाब। यह जैन साधुसमाज में रूढ शब्द है।

श्रीमहाराज साहब को उपाश्रय में आये कुछ ही समय हुआ था और वे गोचरी कर रहे थे। कंवरलालजी की दादी बोली—"आप आनंद से गोचरी करिये, मेरी लड़का तो जीगया।"

उस समय से कंवरलालजी का स्वास्थ्य प्रतिदिन सुधार की ओर अग्रसर होता गया और कुछ ही दिवसों में वे पूर्ण स्वस्थ होगये। उस समय श्रीमहाराज साहब का ऐसा आश्चर्य-जनक प्रभाव देख कर सब लोग दृढ़ रूप से धर्म-परायण एवं इनके परम-भक्त बन गये। कंवरलालजी की दादी ने ऐसा नियम लिया कि प्रतिवर्ष, जब तक श्रीमहाराज साहब जहां-कहीं भी विद्यमान रहेंगें, तब तक वे कंवरलालजी को उनके दर्शन अवश्य करावेंगी। बॉलिग होने के बाद कंवरलालजी खुद श्रीमहाराज साहब के दर्शन करेंगें। यदि किसी वर्ष इस नियम का पालन न होसका तो कंवरलालजी या उनकी दादी पांच रुपये इस नियम-भंग के दंड-स्वरूप श्रीमहाराज साहब के कहने के अनुसार धर्म-खाते में व्यय करेंगी।

पाठकवृन्द! श्रीमहाराज साहब के प्रभाव से वह लड़का अभी तक जीवित है और उस नियम का बराबर पालन कर रहा है।

इसी प्रकार विक्रम संवत् १८८९ में श्रीमहाराज साहब का चातुर्मास इटारसी में हुआ। वहां काल्रामजी नामक एक श्रावक थे। उस समय उनकी एक लड़की, जो कि आयु में बारह मास की थी, बहुत ज्यादह बीमार थी। श्रीमहाराज साहब

नें उसको कुछ प्रभाव-पूर्ण मांगलिक शब्द सुनाये, जिससे उसका तीन-चार दिनों से छूटा हुआ स्तन्य-पान फिर शुरू हुआ और कुछ ही दिवसों में वह बिलकुल स्वस्थ होगई। उसके माता-पिता इस उपकार के लिये श्रीमहाराज साहब के पूर्ण कृतज्ञ हैं और इनके ऊपर परम-भक्ति एवं विश्वास रखते हैं।

एक समय मंदसौर के चातुर्मास के पूर्ण होजाने पर श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब नें अपने गुरु महाराज के पास जाने के लिये वहां से विहार किया। मार्ग में एक शून्य-मंदिर में ये ठहरे, चूंकि संध्या का समय निकट आगया था और ठहरने के लिये सुविधा-जनक अन्य स्थान न मिल सका था। उस समय इनके साथ पांच साध्वियें और थीं। इनको पहुंचाने के लिये मंदसौर से कुछ श्रावक-लोग भी इनके साथ आये थे, लेकिन वे लोग सुविधा देखकर उस मंदिर से कुछ दूरी पर ठहरे हुए थे। उन्होंनें सिर्फ एक आदमी श्रीमहाराज साहब के साथ कर दिया था। वह भी उसी मंदिर में महारज साहब के साथ ही था।

रात्रि में दस बजे के करीब मुंह पर नकाब डाले और अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित एक डाकू वहां पर आया। देखने से पता लगता था कि वह बुरी नियत से ही आया था। वह चुपचाप देखकर चला गया।

एक घंटे के बाद फिर दो डाकू आये और देखकर चले गये। आखिरकार दो या तीन घंटे के बाद एक साथ चार डाकू आये और उद्दण्डता और असभ्यता के साथ पूछने लगे—

" यहां कौन है ? "

" हम-लोग तो साधु-मुनिराज हैं । " श्रीमहाराज साहब नें उत्तर दिया । " आस-पास गांव के दूर रह जाने और संध्या के निकट आजाने की वजह से हम-लोग यहीं ठहर गये । प्रातःकाल होने पर यहां से विहार कर जायंगें । "

" आप-लोग यहां क्यों ठहरे ? " डाकुओं नें क्रुद्ध होकर कहा । " यदि कोई आप-लोगों को लूट जाए या किसी तरह की तकलीफ दे तो ? "

" हमारे पास क्या धरा है ? " श्रीमहाराज साहब नें जरा जोर से कहा । " ये पात्र वगैरह हैं, जिसकी इच्छा हो, ले जावे। हम-लोगों का भी ईश्वर और गुरु महाराज सहायक हैं।"

इस प्रकार श्रीमहाराज साहब की तेजस्विनी वाणी सुन कर वे लोग एक-दम अप्रतिभ होगये। उनका क्रोध बिलकुल शांत होगया । वे लोग वहां से शीघ्र ही उलटे पावों वापस लौट गये । बाद में कोई भी न आया, लेकिन महाराज साहब सावधान थे ।

डाकुओं के जाने के बाद श्रीमहाराज साहब नें अपने साथ की पांचों साध्वियों को सुला दिया और उनके पहरे पर एक तरफ आप खुद बैठे तथा दूसरी तरफ उस आदमी को बिठा दिया और उसको सावधान रहने के लिये कह दिया । इस प्रकार ये सुबह तक श्रीभगवान् का नाम जपते हुए बैठे रहे । वह आदमी भी श्रीमहाराज साहब के उपदेशानुसार बैठे-बैठे

सुबह तक भगवन्नाम जपता रहा।

सवेरे जब सब श्रावक-लोग वहां आये और उस आदमी के मुख से सब हाल सुना, तब वे लोग श्रीमहाराज साहब की तेजस्विता से बड़े प्रभावित हुए और इस बात पर बड़ा पश्चात्ताप करने एवं श्रीमहाराज साहब से क्षमा-प्रार्थना करने लगे कि उन्होंने और दो-चार श्रावकों को या मनुष्यों को उनके पास क्यों न रखा! व्यर्थ श्रीमहाराज साहब को तकलीफ पड़ी और रात-भर उन्हें जागरण करना पड़ा।

एक समय श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब विहार करते हुए अपने गुरु महाराज श्रीपुण्यश्रीजी के साथ जावरा गये। उस समय जावरा में जैन-समाज में पांच तड़ें थीं। संगठन बिलकुल नहीं था। श्रावकगण एक जगह बैठकर धर्म-कार्य नहीं करते थे। परस्पर द्वेष एवं कलह की भावना बड़े जोरों से थी। यह हालत लगभग दस वर्षों से थी। यहां पर संगठन के लिये पहले भी साधु-मुनिराजों ने प्रयत्न किया था, लेकिन वे कृत-कार्य न होसके। ऐसे समय में हमारी चरित्र-नायिका ने जावरे में पदार्पण किया।

हमारी चरित्र-नायिका श्रीरत्नश्रीजी महाराज का यह स्वभाव था कि वे अपने गुरु महाराज के संमुख बहुत ही संकोच, लज्जा एवं विनय का भाव रखतीं थीं। उनके सामने ये न किसी से अधिक संभाषण करतीं, न किसी को कुछ भी समझातीं और न किसी को उपदेश देतीं थीं। जावरे में भी यही हाल रहा।

जब पुण्यश्रीजी महाराज साहब वहां दो-चार दिन ठहर कर इनको वहीं छोड़ रतलाम के लिये विहार करने लगे, तब श्रावक-लोग आकर उनसे प्रार्थना करने लगे—" आप इन महाराज साहब को यहां क्यों छोड़ जा रहे हैं, इनके बदले में किसी दूसरे को छोड़ जाय, तो हमारे लिये हितकर होगा, क्योंकि ये न तो किसी से अधिक बोलती हैं और न किसी को उपदेश देती हैं। ऐसे सूम से हमें क्या लाभ मिलेगा?"

श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब यह सुन कर मुसकिराये और श्रावकों को समझाया कि अभी इन्हींकी यहां ठहरने की इच्छा है, अतः कुछ दिन ये ही यहां ठहरेंगें, बाद में दूसरे किसी को भेज देंगे। श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब इनके स्वभाव से सम्यक्तया परिचित थे और वे यह भी जानते थे कि इनमें उपदेश-शक्ति कितनी प्रभावशालिनी है। अतः श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब इनको वहीं छोड़ गये, और आप स्वयं रतलाम की तरफ विहार कर गये।

बाद में जावरा के श्रावक एवं श्राविकाओं नें जब एक-दो दिन तक श्रीमहाराज साहब के व्याख्यान सुने एवं उनकी सदुपदेश-सुधा पान की, तब तो वे सब लोग श्रीमहाराज साहब से पूर्ण प्रभावित हुए और अपने अपराधों के लिये क्षमा-याचना करने लगे।

पंद्रह दिन वहां ठहरने के बाद जब श्रीमहाराज साहब नें अपने गुरु महाराज के पास जाने के लिये रतलाम की तरफ

विहार किया, तब वहां के श्रावक-लोग भी श्री महाराज साहब की जय-जयकार करते हुए पीछे-पीछे रतलाम पहुंचे और वहां श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब से इन के जावरा में चातुर्मास करने के लिये बड़ी आग्रह-पूर्ण प्रार्थना करने लगे। उन्होंने मुसकिरा कर कहा " ये तो सूम हैं। इनको लेजाने से आपका क्या लाभ होगा ? "

इस प्रकार व्यङ्गयोक्ति सुन कर वे लोग बड़े लज्जित हुए और अपनी बिना विचारे एवं शीघ्रता से संमति निश्चित करने के अपराध के लिये सविनय क्षमा-प्रार्थना करने लगे।

वाचकवृन्द ! संसार में हमें विचारशील एवं तर्कशील मस्तिष्क के बहुत कम मनुष्य मिलेंगे। अधिक संख्या उन्हीं लोगों की रहेगी, जो वस्तु के सामने आते ही एकदम अपनी संमति निश्चित कर लेंगे। लेकिन इस प्रकार एकदम, उसका विशेष अनुसंधान एवं तद्विषयक तर्कान्वित विवेचना किये बिना, जल्दी में निश्चित की गई संमति से उस वस्तु या उस मानव के प्रति बड़े-भारी अन्याय होने की पूर्ण संभावना रहती है, जिसके प्रति अपन संमति निश्चित कर रहे हैं। मान लीजिए, एक मनुष्य लज्जाशील प्रकृति का है, या गंभीर-स्वभाव वाला और एकान्त-प्रिय है, या दार्शनिक होने से तर्कशील स्वभाव का है, या साहित्यिक होने से भावुक है, तो जगत् में वह घमंडी, अभिमानी, या जबरन अपनी विद्वत्ता फाकने वाला, या विलासी समझा जावेगा। प्रत्येक मनुष्य में यह सामर्थ्य नहीं रहती कि

वह उसके स्वभाव के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर एवं उसकी परिस्थितियों की सूक्ष्म छानवीन करके अपनी सम्मति निश्चित करे; लेकिन यह भी सत्य है कि इसी प्रकार की संमति स्थायी एवं मूल्यवान् होसकती है ।

जावरा के श्रावक-लोगों नें यह विचार नहीं किया कि उस प्रकार का मौन सरीखा व्यवहार सूमपन के सिवाय अन्य दूसरे भी कारण से होसकता है । इसीलिए उन्होंनें श्रीमहाराज साहब को सूम या अपढ़ समझ कर उनके प्रति कितना भारी अन्याय किया । इसीलिए उनकी वह संमति स्थायी एवं मूल्य-वान् न होसकी और अन्त में उनको खुद को ही उसके लिये श्रीमहाराज साहब से और उनके गुरु महाराज साहब से क्षमा-प्रार्थना करनी पड़ी । अस्तु ।

अंत में जावरा के श्रावकों के अत्यंत आग्रह-पूर्ण प्रार्थना के बाद श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब नें रत्नश्रीजी महाराज साहब को जावरे में चातुर्मास करने के लिये अनुमति प्रदान की । श्रावक-लोग वापस जावरा गये और महाराज साहब नें भी जावरा के लिये विहार किया, चूंकि चातुर्मास आरंभ के कुछ ही दिन बाकी रह गये थे ।

जब श्रीमहाराज साहब जावरा पधारे, तब वहां एक यति ने इनको कहा—"यहां पांच तड़े हैं, और वे दस वर्ष से हैं । बहुत प्रयत्न करने पर भी यहां संगठन नहीं होसका है । इसलिए पर्यूषण पर्व में जन्म-दिवस के अवसर पर प्रत्येक तड़ वालों के

लिये आपको अलग-अलग पांच व्याख्यान बांचने पड़ेंगे; जो पहले आवेंगे, उनके लिये पहले और बाद में आने वाले के लिये बाद में।"

"श्रीगुरुमहाराज की कृपा से" श्रीमहाराज साहब नें जवाब दिया, "मैं तो एक ही व्याख्यान बाचूंगी।"

श्रीमहाराज साहब के ये वचन आगे जाकर सार्थक हुए। जो बात गत दस वर्षों में बहुत प्रयत्न से भी सिद्ध न होसकी थी, वह इनके पाद-पद्मों के वहां गिरने एवं इनके वचन-मात्र से ही इनके वहां जाने के दूसरे ही दिन सिद्ध होगई। सत्य है—"महात्माओं के वचन कभी भी व्यर्थ नहीं होते।"

दूसरे ही दिन जावरे में वहीं का कोई पदाधिकारी बाहर से आया। उसने जब उस फूट का हाल सुना, तब उसको बड़ा बुरा लगा। अतः उसने सब लोगों—श्रावकों को बुलवा कर बहुत समझाया और अंत में सबों को एक किया। बाद में उसनें आगे के लिये यह नियम बना दिया कि जो कोई समाज में कलह एवं द्वेष फैलाने का प्रयत्न करेगा और इस प्रकार सामाजिक संगठन के भंग का कारण बनेगा, उस पर पांच रुपये जुर्माना होंगे।

इस प्रकार श्रीमहाराज साहब के वहां पधारने के दूसरे ही दिन सबों में ऐक्य स्थापित होगया और उनकी एक ही व्याख्यान बांचने की उक्ति पूर्णतया सफल हुई।

बाद में श्रीमहाराज साहब नें अपने नैरंतरिक सदुपदेशों से

उन लोगों की उस ऐक्य की भावना को और भी सुदृढ़ बनाया, जिससे भविष्य में भी ऐक्य बना रहे ।

इस ऐक्य के स्थापित होजाने से चातुर्मास में और खास कर श्रीपर्यूषण पर्व में वहां बड़ा आनंद रहा । सामूहिक रूप में जन्मोत्सव आदि धर्म-कर्म मनाये गये । धर्म की बड़ी प्रभावना हुई । कल्पसूत्र का वरघोड़ा भी बड़े धूमधाम से निकला । प्रत्येक कार्य में प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण सहयोग रहा। इस प्रकार श्रीमहाराज साहब के प्रभाव एवं वाणी से जावरे का संगठन हुआ । श्रावक लोक इनके परम-भक्त बन गये । इनमें से कुछ वातों का जिक्र हम ऊपर के प्रकरण में कर आये हैं ।
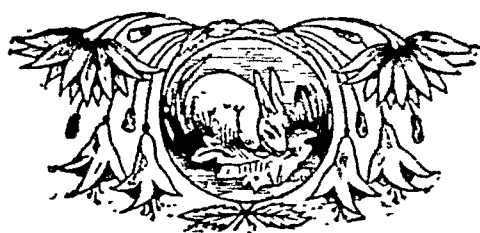
संगठन के विचार और कार्य

संगठन में बड़ी शक्ति है। जो काम संसार में दुष्कर या असाध्य हो, वह भी संगठन से सरल और साध्य हो सकता है। पानी की बूंद में क्या शक्ति है? कोई भी नहीं अनुभव करता, लेकिन उसीकी एक संगठित एवं सामूहिक रूप धारा में कितनी शक्ति आ जाती है कि वह बड़े-बड़े पहाड़ों एवं चट्टानों को भी कुछ नहीं समझती, उन्हींको भी वह तोड़-फोड़ कर निकल जाती है। एक तृण में कौनसी शक्ति प्रतीत होती है? एक साधारण बच्चा भी चाहे जितने उसके टुकड़े कर सकता है। क्या उस तृण से खरगोश-सा नन्हा जानवर भी बांधा जा सकता है? लेकिन उसीकी सामूहिक एवं संगठित रूप रज्जु मदोन्मत्त हाथी को भी वशीभूत कर सकती है। एक बाल में कितनी शक्ति है? और उसका उपयोग भी क्या है? लेकिन उसीका सामूहिक एवं संगठित रूप कंबल-वस्त्रादि कितने उपयोगी एवं शक्तिमान् हो जाते हैं! तात्पर्य यही कि व्यष्टि में शक्ति रहते हुए भी वह कुछ काम की नहीं, बिलकुल नाहीं-सी है, लेकिन वे ही यदि

समष्टि में परिणत हो जाएं, तो उससे संसार का बहुत काम निकल सकता है। व्यष्टि में रहनेवाली शक्तियें अप्रादुर्भूत एवं गुप्त रूप से रहती हैं, वे ही समष्टि में प्रादुर्भूत एवं प्रकट हो जाती हैं। समष्टि का नाम ही तो संगठन है।

प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये संगठन की बड़ी आवश्यकता है। इतना ही क्यों, आत्म-रक्षा के लिये भी संगठन की बड़ी जरूरत है। एक सिपाही कैसे देश की रक्षा कर सकता है? क्या एक स्तंभ प्रासाद को संभाल सकता है? एक रुपये से धड़ाके से व्यापार नहीं होसकता। एक वस्तु के ज्ञान से मनुष्य विद्वान् या ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। एक ग्रास से उदर-पूर्ति नहीं हो सकती। एक बूंद जल से पिपासा का शांत होना असंभव है। तात्पर्य यही कि समष्टि, जिसका कि अपर नाम संगठन है, में ही शक्ति रहती है। अथवा यों कहें कि संगठन ही शक्ति है, तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी।

अंग्रेज व्यापारी मिलकर एक कंपनी कायम करते हैं और उसके द्वारा अपना व्यापारिक कारबार प्रारंभ करते हैं। शेअर्स निकाल कर कोई बड़ा कारखाना खोला जाता है। प्राचीन आर्य-संस्कृति और आर्यावर्त का आदर्श संमिलित कुटुंब-प्रथा में है। क्या ये सब समष्टि की अपूर्व शक्ति का लाभ उठाने के लिये नहीं? क्या इनमें संगठन की शक्ति का सदुपयोग लेने की भावना नहीं?

गत सत्याग्रह-युद्ध के समय कांग्रेस नें अंग्रेज सरकार के दृढ़ शासन-प्रासाद को मूल से हिला दिया, क्या यह समष्टि या संगठन की अपूर्व शक्ति का परिचायक नहीं ? क्या एक व्यक्ति में यह सामर्थ्य था कि वह अकेला जेल में जाकर उस प्रासाद की नींव का एक कंकर भी खिसका सकता ?

पूज्य महात्माजी नें सन् १९२० के असहयोग-आंदोलन के पश्चात् सन् १९३० के सत्याग्रह-आंदोलन तक दस वर्ष में क्या किया ? क्यों दस वर्ष उन्होंने आंदोलन स्थगित रखा ? इसीलिये न कि, इतने समय में उन्होंनें संगठन या समष्टि अच्छी तरह बनाली। तभी तो कांग्रेस को इतनी अभूत-पूर्व विजय-श्री मिली। नहीं तो सन् १९२० के असहयोग-आंदोलन के असफल होने का क्या कारण था ? यही कि, उस समय संगठन या समष्टि अच्छी तरह न बन पाई थी।

सम्राट् पृथ्वीराज के समय में महम्मद गजनी की विजय और सम्राट् की पराजय क्यों हुई ? इसका कारण यही था कि महाराज जयचंद नें हिन्दू-समष्टि बनाने में सहयोग न दिया, प्रत्युत उन्होंनें मुस्लिम-समष्टि को दृढ़ किया। यदि महाराज जयचंद अपनी व्यष्टि को हिन्दू-समष्टि में परिणत कर देते तो क्या भारतवर्ष पराधीनता की शृंखला में बद्ध होसकता था ?

इतना ही क्यों, प्रारंभ से भारतवर्ष का इतिहास देखिये। जब भी अन्य जाति नें हम पर आक्रमण किया और वह विजित हुई, सर्वत्र यही कारण था कि हमारी समष्टि पूरी तौर से

न बनी थी। कुछ लोगों नें तो उल्टे बनी-बनाई समष्टि को नष्ट किया। इसीको हम अन्य शब्दों में—फूट, या देश एवं जाति का द्रोह करना कह सकते हैं।

भगवान् महावीर नें नयवादों को अप्रामाणिक मानकर प्रामाणिक स्याद्वाद-सिद्धांत को स्थापित किया—इसमें उनका क्या उद्देश था? इसमें उनकी क्या भावना संनिहित थी?

पाठकवृन्द! इसमें भी भगवान् की समष्टि या संगठन की ही भावना थी। संसार के सामने समष्टि या संगठन का आदर्श रखना ही इसमें भगवान् का उद्देश्य था। भगवान् नें अपने अपूर्व ज्ञान से देखा कि संसार में अनेक दृष्टियें विद्यमान हैं और वे सब एकांगी हैं—नय-रूप हैं; उनमें आंशिक सत्य अवश्य है, लेकिन पूर्ण सत्य उनमें न होने से वे प्रामाणिक नहीं हो सकती हैं; एकांगी दृष्टि से वस्तु का वास्तविक रूप नहीं जाना जा सकता; वस्तु के अनंत-धर्मात्मक होने से एक ही धर्म को दृष्टि में रख कर वस्तु का निरूपण करना प्रमाणभूत नहीं कहा जा सकता और सभी दृष्टियों के एकांगी होने से ही यह पारस्परिक कलह हो रहा है। यह देख कर ही भगवान् नें उन सब दृष्टियों को समष्टि में परिणत कर सब दृष्टियों की समन्वय-रूप स्याद्वाद-दृष्टि को जन्म दिया। तात्पर्य यही कि स्याद्वाद-सिद्धांत दृष्टियों की समष्टि-रूप ही है। इसको जन्म देकर भगवान् नें समष्टि का आदर्श संसार के सामने रखा। दृष्टियों के पारस्परिक कलह को मिटा कर उनमें ऐक्य,

समष्टि, समन्वय या संगठन कायम करने के उद्देश्य से भगवान् ने संसार को स्याद्वाद-सिद्धांत बतलाया।

अधिक तो क्या, प्रकृति स्वयं हमें समष्टि का पाठ सिखाती है। यह समग्र संसार भी समष्टिमय है। समष्टि के बिना हमारा तृण-मात्र भी कार्य नहीं बन सकता। जिस पर समस्त संसार स्थित है, वह पृथ्वी भी क्या वस्तु है? वह भी तो कणों की—परमाणुओं की समष्टि-रूप है। तालाब, नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष, हमारा शरीर आदि समस्त प्रकृति समष्टि-रूप ही तो है। व्यष्टि—परमाणु से प्राणि-मात्र का कौनसा कार्य सिद्ध हो सकता है? अतः समष्टि ही कार्योपयोगिनी है और समष्टि में ही कार्योपयोगित्व की शक्ति है। हम ऊपर कह आये हैं कि समष्टि का ही अपर नाम संगठन है। इस दृष्टिकोण से संगठन ही से जगत् के सब कार्य सिद्ध होते हैं। संगठन के बिना प्राणिमात्र का तुच्छतम कार्य भी नहीं हो सकता। प्रकृति स्वयं संगठन मय होकर हमें संगठन का पाठ सिखाती है। इससे अधिक और क्या संगठन की व्यापक शक्ति का परिचय हो सकता है?

वाचकवृन्द! इस प्रकार संगठन पर विचार करके उसकी महत्ता को समझ कर अब आधुनिक समाज पर दृष्टि डालिए।

आधुनिक समय में समाज में संगठन का बिलकुल अभाव है। जहां देखिए, वहां पारस्परिक राग, द्वेष, कलह और वैमनस्य आदि का साम्राज्य मालुम होता है। लोग अपने व्यक्तिगत

पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेषादिक को समाज एवं धर्म में ला पटकते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि समाज एवं धर्म में फूट पड़ जाती है और फलतः दोनों ही अवनति के गहरे गर्त में गिर जाते हैं। आज सामाजिक एवं धार्मिक अवनति का भी यही कारण है।

वास्तव में इस प्रकार समाज एवं धर्म को अपने व्यक्तिगत राग-द्वेषादि का क्षेत्र बना कर उनको रसातल पहुंचाना उचित नहीं मालुम होता। प्रत्येक व्यक्ति को यह समझना चाहिये कि वह समाज एवं धर्म के रमणीय प्रासाद का एक स्तंभ है। विचार-भेद एवं कार्य-भेद सर्वत्र होते हैं, लेकिन उस भेद के पचड़े को उस प्रासाद में लाकर उस प्रासाद को हिला देना या अपने आधार रूप उत्तरदायित्व को न समझ कर उसको नष्ट कर देने के लिये उद्यत होजाना बुद्धिमानी का कार्य नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का यह आवश्यक कर्तव्य होजाता है कि परस्पर कितना भी विचार-भेद एवं कार्य-भेद हो, या राग-द्वेषादि की भावना हो, लेकिन वह उसके कारण सामाजिक एवं धार्मिक उन्नति में किसी प्रकार भी वाधा न डाले। सामाजिक एवं धार्मिक उन्नति व्यक्ति पर ही निर्भर है और व्यष्टि से ही समष्टि बनती है। इस विचार-सरणि से उन उन्नतियों का आधार व्यक्ति ही तो है।

अन्य यूरोपियन जातियों को देखिए, परस्पर उनमें क्या विचार-भेद, कार्य-भेद या राग-द्वेषादि की भावना कम रहती

है ? लेकिन जब कभी सामाजिक, धार्मिक या राष्ट्रीय उन्नति, रक्षा आदि का प्रश्न सामने उपस्थित होता है, तो व्यावहारिक दृष्टि से परस्पर के प्रति कट्टर शत्रु भी कंधे से कंधा भिड़ा कर उसको हल करने के लिये जीजान से प्रयत्न करने के लिये कटिबद्ध होजाते हैं। यही तो बुद्धिमत्ता है और यही तो आदर्श है। तभी तो उनका समाज, धर्म एवं राष्ट्र सभी उन्नति के उच्च शिखर पर आरूढ नज़र आते हैं। हमारे समाज के व्यक्तियों को उसी आदर्श पर चलना और उनका पदानुसरण करना चाहिये।

इसी प्रकार का आदर्श महाभारत काल में महाराज युधिष्ठिर नें संसार के सामने रखा था। महाराज युधिष्ठिर जब द्यूत में अपना सर्वस्व हार कर शर्त के अनुसार वनवास कर रहे थे, उस समय भी दुर्योधन अपनी दुर्जनता से बाज़ न आसका। उसनें पांडवों को वहां असहाय समझ कर उनको मारने के उद्देश्य से अपनी सेना और सरदारों को साथ लेकर उस वन की ओर प्रयाण किया। मार्ग में चित्ररथ नामक गंधर्व-सेनापति से, जो कि अर्जुन का घनिष्ठ मित्र था, किसी कारण से दुर्योधन की तकरार होगई। फलतः युद्ध में चित्ररथ नें उन सब सरदारों सहित दुर्योधन को कैद कर लिया और अपनी राजधानी की ओर लेचला। अपने महाराज आदि की यह दुर्दशा देख कर समस्त सेना भाग चली। कुछ मनुष्यों से यह समाचार सुन कर महाराज युधिष्ठिर नें अपने भाइयों को

उसकी रक्षा करने एवं छुड़ा लाने के लिये कहा। उनके एवं द्रोपदी के विरोध करने पर महाराज युधिष्ठिर ने जो शब्द कहे थे, वे आदर्श-रूप अतएव अनुकरणीय हैं। उन्होंने कहा था—"पारस्परिक लड़ाई में अपन पांच हैं और वे सौ हैं, लेकिन अन्य के सामने अपन एक सौ पांच हैं। अपने आपस में कितना ही भेद और कलह होता रहे, लेकिन हमारा कुल का धर्म कभी नष्ट न हो। ज्ञाति और कुल का अभिमान रखने वाले हम अन्य मनुष्यों से किये गये स्वजन के तिरस्कार को कभी नहीं सहन कर सकते[1]।"

वाचकवृन्द! विचार करिए; इन शब्दों के भावों पर दृष्टि डालिए; कितना आत्माभिमान, कितना प्रेम और कितनी हृदय की विशालता के भाव भरे पड़े हैं। आज समाज ने इस आदर्श को छोड़ दिया है। इसीलिए वह अवनति के गहरे गर्त में गिर गया है। उसकी उन्नति के लिये समाज को इसी आदर्श पर चलना होगा। समय-समय पर प्रत्येक व्यक्ति चाहे अपनी अलग-अलग मान्यता रखे, विचार-भेद रखे, लेकिन जब भी समाज, धर्म एवं देश का प्रश्न सामने उपस्थित हो, तब वह अपन ओसवाल हैं, जैन हैं, या भारतीय हैं—इसी एक भावना को लेकर और कंधे से कंधा भिड़ा कर उस प्रश्न को हल करने

---

१ "भवन्तु भेदाः कलहाश्च नो मिथः, कुलस्य धर्मो न पुनर्विनश्यतु।
परैः कृतं ज्ञातिकुलाभिमानिनो न मर्षयाम स्वजनप्रधर्षणम्॥"

—भारतमंजरी, आर. प. १६४३

के लिये प्रयत्न करे ।

पाठकगण ! अब अपने साधु-साध्वी समाज पर दृष्टिपात करिए । संप्रदाय-भेद के कारण वे लोग आपस में मिलना-जुलना एवं अन्य संप्रदाय के किसी वृद्ध व्यक्ति के मिलने पर उसे प्रणाम-वंदनादि करना भी नापसंद करते हैं । इसी प्रकार के आचरण के प्रत्यक्षीकरण एवं उपदेश-श्रवण से श्रावक-समाज में भी यही भाव पाया जाता है । यहां तक कि श्रावक-समाज का व्यक्ति अपने से अन्य-संप्रदाय के किसी भी साधु या साध्वी को सभ्यता के लिहाज से भी प्रणामादि करने को एक गर्ह्य-कार्य, पाप, या मिथ्यात्व समझता है । हालांकि वह अजैन—क्रिश्चियन, मुसलमान आदि समाज के प्रतिष्ठित मनुष्यों को सादर प्रणाम और सलाम, जो कि प्रणाम का ही रूपांतर है, आदि सभ्यता के अनुसार व्यवहार करता है । जब कि अपने समाज के व्यक्ति अजैन लोगों को प्रणामादि शिष्टाचार करने एवं उनके उपदेश-श्रवण में कोई भी पाप या मिथ्यात्व नहीं समझते, फिर अपने ही समाज के साधु-मुनिराजों को नमस्कारादि शिष्टाचार करने एवं उनके उपदेश-श्रवण में पाप या मिथ्यात्व समझना क्या घोर अज्ञान एवं अपनी राग-द्वेषादि से दूषित मनो-वृत्तियों का परिचायक नहीं है ?

आधुनिक काल में समाज में तड़बंदी की प्रथा भी बड़े जोरों पर है । कुछ भी किन्हीं व्यक्तियों में बोल-चाल या कलह हुआ कि तड़ें पड़ीं, फूट के बीज का समाज-क्षेत्र में

वपन हुआ। इस प्रकार की भावनाएं सामाजिक हित की दृष्टि से समाज के लिये बड़ी घातक हैं।

विचार करने पर इसका कारण व्यक्तिगत स्वार्थ एवं अहंत्व की भावना ही प्रतीत होती है। समाज के हित एवं उन्नति को चाहने वाले व्यक्तियों नें इस प्रकार की भावना को सर्वथा निकाल देने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। परस्पर चाहे इस प्रकार की भावना रखी जाय, हालांकि यह भी प्रकार बुरा है, लेकिन समाज, धर्म एवं देश की उन्नति में तो इस प्रकार की भावनाओं से रोड़े अटकाना और उसमें फूट डालना बुद्धिमानी एवं मनुष्यता नहीं है। अस्तु।

हमारी चरित्र-नायिका श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब के विचार भी प्रायः इसी सरणि के हैं। ये संगठन की बड़ी पक्ष-पातिनी हैं। जहां-जहां भी इन्होंनें चातुर्मास किये और फूट देखी, वहीं इन्होनें संगठन के लिये भरसक प्रयत्न किया। तींवरी एवं बदनावर आदि गांव के कार्य इस बात के साक्षी हैं। इनका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं। दोनों ही गावों में श्रीमहा-राज साहब नें कठोर परीषहों को सहन करके भी संगठन कायम किया। जब कि समाज में अन्य व्यक्ति संप्रदाय-भेद क्रिया-भेद आदि भेदों को, और अपनी पूजा करवानें तथा "येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्[1]" इस न्याय से बड़े बनने की अधम

---

१ यह श्लोक पूरा इस प्रकार है—
"घटं भिन्द्यात् पटं छिन्द्यात् कृत्वा च रासभध्वनिम्।
येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्॥" —उक्ति-विशेष

लालसा को लेकर समाज, धर्म एवं देश में फूट का बीज वपन करने की चेष्टा किया करते हैं, तब इस प्रकार आहार-पानी-संबंधी घोर उपसर्गों को सहर्ष सहन करके संगठन के लिये भगीरथ प्रयत्न करना क्या आदर्शरूप नहीं है? इस प्रकार के कार्य उन स्वार्थी व्यक्तियों के लिये, जो कि केवल अपने अधम स्वार्थ के लिये समाज एवं धर्म को फूट के द्वारा रसातल मे पहुंचा देने की चेष्टा करते हैं, अवश्य अनुकरणीय हैं।

यद्यपि जावरे में जो संगठन हुआ, उसमें श्रीमहाराज साहब का प्रयत्न कारणीभूत नहीं है, लेकिन ये खुद तो अपने आत्मिक तेज एवं प्रभाव के द्वारा कारण हैं हीं। यह हम ऊपर लिख आये हैं कि जावरे का संगठन श्रीमहाराज साहब के पाद-पद्मों के वहां गिरने के दूसरे ही दिन होगया था, और उसमें श्रीमहाराज साहब का आत्मिक तेज एवं प्रभाव कारण था। अतः जिस प्रकार मिट्टी का घड़ा बनाने में कुम्हार का चाक कारण है, लेकिन वह पड़ा-पड़ा कारण नहीं हो सकता, अपि तु अपनी घूमने की क्रिया द्वारा कारण होता है; अथवा कपड़े सीने में दर्जी की मशीन कारण हैं, लेकिन वह भी रखी हुई कारण नहीं

मतलब यह कि चाहे मनुष्य अपने घर के बर्तन फोड़ डाले, कपड़े फाड़ डाले और बाजारों में गधे सरीखा भौंकना भी पड़े तो कोई हरकत नहीं। मनुष्य को तो किसी भी प्रकार से प्रसिद्ध बनना चाहिये।—कोई औपहासिक उक्ति है।

होसकती, अपि तु अपने में होने वाली क्रिया, और पट के एवं अपने संयोग विशेष के द्वारा कारण होती है; उसी प्रकार स्वयं श्रीमहाराज साहब जावरे के संगठन में कारण नहीं, अपि तु अपने आत्मिक तेज एवं प्रभाव के द्वारा कारण हैं। इसी कारण को न्याय की परिभाषा में असाधारण कारण या करण कहते हैं और यही कार्य का पक्का कारण समझा जाता है।

संगठन होने के बाद भी वहां श्रीमहाराज साहब का सारे चातुर्मास में संगठन को दृढ बनाने के लिये प्रयत्न रहा, जिससे कि भविष्य में भी संगठन कायम रह सके।

महीदपुर में भी कई वर्षों से जैन-समाज में फूट का साम्राज्य था। करीब दो-एक युग बीत गये थे, जब कि महीदपुर के जैन-समाज में तड़ें पड़ीं। तड़ें भी क्रम से बढ़ते-बढ़ते करीब पांच या छह संख्या तक पहुंच गई थीं। एक तड़ के लोग दूसरी तड़ के व्यक्ति से किसी भी धार्मिक या सामाजिक कार्य में सहयुक्त नहीं हो सकते थे। यह पारस्परिक द्वेष की भावना यहां तक बढ़ी कि बाहर गांव में भी एक तड़ का व्यक्ति दूसरी तड़ के व्यक्ति के साथ किसी भी कार्य में नहीं जासकता था और न साथ में बैठकर खा भी सकता था। वैयक्तिक राग-द्वेष भी बहुत अधिक रूप में—किं बहुना—वृद्धि के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ होगया था। एक समय परस्पर इसी वैयक्तिक राग-द्वेष एवं पारस्परिक सामाजिक कलह को लेकर मुकद्दमे-बाजी भी हुई, जिसमें,

बतलाते हैं, दस-बारह हजार रुपया खर्च हुआ था। इसके अलावा इस मुकद्दमे-बाजी से समाज एवं धर्म के क्षेत्र में फूट एवं पारस्परिक राग-द्वेष का वृक्ष भी इतना बद्धमूल होगया था कि बड़े-बड़े प्रयत्नों से भी वह हिल नहीं सकता था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि समाज एवं धर्म की उन्नति होना तो अलग रही, उलटे दोनों बहुत ही अवनत दशा में होगये। जो शक्ति और जो द्रव्य समाज एवं धर्म की उन्नति में खर्च हो सकता था और इस प्रकार खर्च होने में उनका पूर्ण सदुपयोग किया जा सकता था, वे ही शक्तियें और वही द्रव्य समाज एवं धर्म को उलटे अवनत दशा में डालने के लिये खर्च किया गया। यह बड़े ही दुःख की बात है। इसे सुन कर प्रत्येक समझदार एवं जिम्मेवार आदमी का हृदय जोरों से थर्राने लगता है। इसे लिखने के लिये लेखक की लेखनी भयंकर रूप से धूजने लगती है। इस बात के वर्णन के शब्द कानों में वज्रवत् प्रहार करते हैं। इसका उत्तरदायित्व उन्हीं लोगों पर है, जिनका कि इस प्रकार की परिस्थिति तैयार करने में पूरा हाथ था। उन लोगों को—लौकिक व्यावहारिक भाषा में—ईश्वरीय न्यायालय में, और जैन शास्त्रीय शब्दों में—दिव्य कर्म के न्याय-मंदिर में इस उत्तरदायित्व का अवश्य जवाब देना होगा। महीद-पुर के जैन-समाज के इतिहास में उन लोगोंके नाम किस प्रकार के अक्षरों में लिखे जायंगे और उसमें उन लोगों का कौन-सा स्थान रहेगा—यह बात भविष्य की शिक्षित प्रजा समझेगी और

बतलावेगी। अस्तु।

श्रीमहाराज साहब के महीदपुर आने पर इनको जब यहां की उस प्रकार की द्वेषमय, कलहमय एवं फूटमय परिस्थिति मालुम हुई, तब इनके हृदय को बड़ी ठेस लगी। तभी से श्रीमहाराज साहब नें यहां के उस कलह, द्वेष एवं फूट को मिटाने का प्रयत्न किया।

बाद में श्रीमहाराज साहब के परम-भक्त श्रीयुत सेठ साहब अमीचंदजी कांस्ट्या भोपाल वाले इनके दर्शनार्थ महीद-पुर आये। वे श्रीमहाराज साहब के दर्शनार्थ साल-भर में एक या दो वक्त आया करते हैं। उस समय उन्होंनें भी श्रीमहाराज साहब के उपदेश से यहां सामाजिक ऐक्य स्थापित करने के लिये भगीरथ प्रयत्न किया। अपने साथ सहयुक्त रूप से काम करने के लिये उन्होंनें अपने बड़े मुनीम श्रीयुत सरदारमलजी बूरड़ को भी महीदपुर बुलवाया। उन्होंनें भी यथा-शक्ति प्रयत्न किया, लेकिन हर एक कार्य की अवधि एवं समय रहा करता है, इस दृष्टि से यहां ऐक्य स्थापित न होसका। बाद में वह ऐक्य विक्रम संवत् १९९५ के फाल्गुन मास में स्थानीय कुछ सज्जनों के प्रयत्न से हुआ। एक तरह से यह अच्छा ही रहा कि महीदपुर के समाज नें खुद नें ही वह फूट और कलह पैदा किया था और खुद ने ही फिर ऐक्य स्थापित कर लिया। बाहर के व्यक्तियों के प्रयत्न की कृतज्ञता का भार समाज के कंधों पर न पड़ा।

इसी प्रकार महीदपुर में सांप्रदायिकता का भी जहर समाज में बहुत ज्यादा फैला हुआ था। सुनते हैं, वर्षों पहले— दो युग से भी पहले महीदपुर में बिल्कुल सांप्रदायिकता का जहर न था। उस समय समस्त जैन-समाज अलग-अलग संप्रदाय के व्यक्तियों के होने पर भी एक सूत्र में बंधा था। श्वेतांबरियों में सिर्फ स्थानकवासी-समाज को छोड़ कर सभी सांप्रदायिक पार्टियें एक ही जगह अपने प्रतिक्रमणादि धार्मिक कृत्य किया करती थीं। स्थानकवासी और संवेगियों में भी परस्पर इतना मत-भेद एवं इतनी हृदयों की दूरी उस समय न थी, जितनी कि इस समय है। तात्पर्य यही कि उस वक्त संप्रदायों के होते हुए भी सांप्रदायिकता का जहर बिलकुल न था। मत-भेदों के होते हुए भी ऐक्य था। उस समय आज की-सी हृदय तथा विचारों की संकीर्णता न थी। उस वक्त मनुष्यों के हृदय तथा विचार बहुत विशाल तथा उदार थे। समाज के व्यक्ति संप्रदाय-वादी होकर भी जैन इस नाते से एक थे। परस्पर सहानुभूति थी।

बाद में समय-समय पर कुछ ऐसे ही महात्माओं के चरण-कमल यहां पड़े, उनके सांप्रदायिकता के जहर से ओतप्रोत उपदेश हुए और कुछ स्थानीय लोगों ने भी इसमें सहयोग दिया। परिणाम यह हुआ कि उपर्युक्त सद्गुण समाज में एक स्वप्न-मात्र रह गये। उसीका एक फल मंदिर की प्रतिष्ठा के रूप में प्रकट हुआ। मुकदमे-बाजी हुई। दोनों ही पार्टियों के

हजारों रुपये खर्च हुए और एक नया मंदिर-सा ही गृह-देरासर के रूप में निर्मित हुआ। समाज एवं धर्म की उन्नति की ओर लगने वाली शक्तियें पारस्परिक कलह एवं द्वेष के बढ़ाने में खर्च की गई। अंत में नतीजा यह हुआ कि वह जहर इतना फैला और उसनें समाज को इतना संकीर्ण-हृदय वाला बना कर इतना अवनत एवं पारस्परिक द्वेषादि दुर्गुणों से संयुक्त कर दिया कि उस मल को क्षालन करने में कई वर्ष लग गये और भी कुछ वर्ष लगेंगे।

हमारी चरित्र-नायिका श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब के विचार इतने संकीर्ण एवं सांप्रदायिक ज़हर से भरे हुए नहीं हैं, यह हम ऊपर कह आये हैं। ये जब महीदपुर आईं और इस प्रकार के प्रचंड सांप्रदायिकता के ज़हर को देखा तो इनका हृदय दुःख से थर्रा उठा। इन्होंनें क्रमशः उस ज़हर को समाज एवं धर्म के हित की दृष्टि से दूर करना शुरू किया। उसका फल यह हुआ कि आज वह ज़हर अपनी प्रचंडता को छोड़ कर एकदम सूक्ष्म रूप में वर्तमान है। आशा है उसमें भी कुछ और कमी होगी।

श्रीमहाराज साहब नें सिर्फ उपदेश के द्वारा ही उस ज़हर को निकालने का प्रयत्न नहीं किया, वरन् अपने आचरण के द्वारा भी। बाद में किसी समय अन्य संप्रदाय के साधु-मुनिराज वहां आये, तब उनको बड़ा समझ कर ये बहुत वक्त उनके व्याख्यान में और दर्शनों के लिये गईं। इस प्रकार का आदर्श

अत्यंत संकीर्णता की भावना रखने वाले अपने समाज में मिलना बहुत दुर्लभ है। महाकवि भर्तृहरि के इस वाक्य को कि—

'गुणाः पूजा-स्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'

श्रीमहाराज साहब के जीवन में हम पूर्ण रूप से उतरा हुआ पाते हैं।

सभी संप्रदाय वाले श्रीमहाराज साहब पर भक्ति रखते हैं। श्रीमहाराज साहब भी सब पर समान-भाव रखते हैं और हर एक संप्रदाय के समाज की सेवा करना अपना कर्तव्य समझते हैं। कुछ वर्ष पहले 'तीन थुई' संप्रदाय के मनुष्य इनके पास ही उपदेश-श्रवण करने के लिये आया करते थे। बाद में कुछ कारण उपस्थित होजाने पर वे लोग अलग व्याख्यान-श्रवण की आकांक्षा करने लगे। पहले तो श्रीमहाराज साहब ने उनको समझाया, लेकिन उनके बिलकुल न मानने पर इन्होंने पर्युषण में अपनी एक शिष्या उनके उपाश्रय में भेजकर वहां उनके लिये अलग व्याख्यान बांचने की व्यवस्था की। अब ये प्रतिवर्ष उनके यहां एक शिष्या व्याख्यान बांचने के लिये भेज दिया करते हैं।

नीचे के उदाहरणों से श्रीमहाराज साहब की हृदय तथा विचारों की उदारता एवं विशालता, तथा सांप्रदायिकता के अभाव का पूर्ण परिचय मिल सकता है।

भोपाल-निवासी श्रीयुत सेठ साहब अमीचंदजी कांस्या यद्यपि तपागच्छ की मान्यता रखते हैं, और श्रीमहाराज साहब

खरतरगच्छ के हैं, तो भी दोनों में बड़ा ही गंभीर गुरु-शिष्य-संबंध है। श्रीयुत सेठ साहब श्रीमहाराज साहब पर अनुपम भक्ति एवं श्रद्धा रखते हैं, कभी भी इनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं और साल में एक या दो बार इनके दर्शन अवश्य करते हैं। श्रीमहाराज साहब भी उनके ऊपर बड़ी कृपा एवं स्नेह रखते हैं। अलग संप्रदाय के होकर भी अन्य संप्रदाय के व्यक्ति को अपना परम-श्रेष्ठ भक्त बना लेना अवश्य श्रीमहाराज साहब के हृदय की विशालता एवं उदारता का परिचायक है। यदि इनका हृदय संकीर्णता एवं सांप्रदायिकता से ओत-प्रोत होता तो क्या आज-सा श्रेष्ठतम संबंध उभय में होसकता था? कदापि नहीं।

इसी प्रकार महीदपुर के श्रीयुत राजमलजी धोका और उनके घर के मनुष्य एवं श्रीमहाराज साहब के बीच वैसा ही परम-श्रेष्ठ गुरु-शिष्य-संबंध है। यह भी कहा जाय कि श्रीयुत धोकाजी साहब और उनके घर के व्यक्ति श्रीमहाराज साहब के श्रेष्ठतम प्रमुख भक्तों में से हैं, तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी। श्रीयुत धोकाजी और उनके गृह-सदस्य कट्टर तपा-गच्छ के हैं, लेकिन तो भी श्रीमहाराज साहब पर अत्यंत ही भक्ति रखते हैं, उनके दर्शनों के बिना प्रायः भोजन नहीं करते और उनके ऊपर पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास रखते हैं। मैं समझता हूं, वे स्वप्न में भी कभी श्रीमहाराज साहब के वचन को अन्यथा नहीं कर सकते। श्रीमहाराज साहब भी उन लोगों पर पूर्ण कृपा एवं स्नेह रखते

हैं। इस प्रकार का संबंध बिना हृदय की विशालता, उदारता एवं सांप्रदायिकता के राहित्य के बिलकुल नहीं होसकता।

एक बात और भी है। हम ऊपर कह आये हैं कि श्रीयुत सेठ साहब और श्रीयुत धोकाजी साहब स्वप्न में भी श्रीमहाराज साहब की किसी प्रकार की भी आज्ञा के विरुद्ध काम करने के विचार करने का भी साहस नहीं कर सकते। ऐसी हालत में श्रीमहाराज साहब यदि चाहते तो सांप्रदायिकता का पक्ष लेकर उनको समझाते और खरतरगच्छ के अनुयायी बना सकते थे। जो मनुष्य श्रीमहाराज साहब का परम-भक्त हो और स्वप्न में भी उनका कोई भी वचन अन्यथा न कर सके, उस व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के प्रभाव को डाल कर भी अपने संप्रदाय का बना लेना अत्यंत सुकर कार्य है, लेकिन, मैं समझता हूं, श्रीमहाराज साहब नें स्वप्न में भी ऐसा विचार नहीं किया होगा।

वाचकवृंद ! क्या इस बात से यह सिद्ध नहीं होता कि श्रीमहाराज साहब सांप्रदायिकता से कोसों दूर ही नहीं, वरन् सर्वथा विरुद्ध हैं ? अन्य कोई साधु-मुनिराज होते तो, मैं समझता हूं, जरूर ऐसे भक्तों को अपने संप्रदाय में खींच लाते, पर श्रीमहाराज साहब नें इस प्रकार का विचार भी मन में न लाकर समाज के सामनें जो आदर्श स्थापित किया है, वह वास्तव में अद्वितीय एवं अनुकरणीय है। यह बात श्रीमहाराज साहब के इस मंतव्य को अभिव्यक्त करती है कि—

"स्वधर्मे मरणं श्रेयः परधर्मो भयावहः।[1]"

संक्षेप में तात्पर्य यही है कि हमारी चरित्र-नायिका श्रीरत्न-श्रीजी महाराज साहब संगठन की बड़ी पक्षपातिनी हैं। उसके अनुकूल हृदय की विशालता एवं उदारता, और सांप्रदायिकता के अभाव आदि सद्गुणों का भी परिचय हमें श्रीमहाराज साहब के जीवन में अच्छी तरह मिल जाता है।

इस प्रकार श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब जहां-जहां गये, वहीं अपने उपदेशों एवं आचरणों से समाज में संगठन तथा ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न करते और सांप्रदायिकता के भयंकर विष को निकाल फेंकने की कोशिश किया करते थे।

---

१ पूरा श्लोक इस प्रकार है—

"श्रेयान् स्वधर्मो निगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥"

अर्थात् अपने से आचरित पर-धर्म से निर्गुण भी अपना धर्म अधिक कल्याणकारक है। स्वधर्म में मरना भी अच्छा। पर-धर्म तो भीति-प्रद ही रहता है।

तप
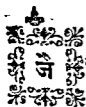
जैन-समाज को लक्ष्य में रख कर आधुनिक काल में तप के ऊपर कुछ लिखना जरा टेढ़ी खीर है। अभी समाज को देखिये, कोई मास-क्षमण, कोई पंद्रह उपवास, कोई आठ, कोई दस, कोई पांच उपवास करता है। दो-तीन मास तक भी लगातार उपवास किये जाते हैं। इसके अलावा उपवास, आयंबिल, एकासना, नीवि आदि, और नवकारसी, पोरसी, देढ़ पोरसी आदि छोटे तपों का तो पूछना ही नहीं। आये दिन या प्रतिदिन ये तो हुआ ही करते हैं। श्रावण-मास आया, एकांतर शुरू हुए; पांच तिथियों में से कोई तिथि आई कि उपवास, आयंबिल वगैरह हुए।

इतनी तपस्या होने पर भी समाज के अंदर घुस कर उसके अंतस्तल को देखिए, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि दुर्गुणों एवं पाप-साधनों में बिलकुल ही कमी नहीं नज़र

---

१ ये उपवास आदि तप के प्रकार हैं। इनका स्पष्टीकरण पाठक जैन-ग्रंथों से कर लें। विस्तार-भय से इनका अर्थ यहां नहीं लिखा जाता।

आती, उल्टे बहुत कुछ वृद्धि ही नज़र आती है। किसी भी तपस्या करने वाले व्यक्ति को देखिए, उसमें उपर्युक्त दुर्गुण अधिक रूप में देखने को मिलेंगें। तपस्या से आत्मिक विकास, उन्नति एवं पवित्रता होनी चाहिए, जैसा कि शास्त्र-कारों नें कहा है; यह तो अलग रहा, उल्टे तपस्या से वे दुर्गुण या पाप-साधन अधिक उग्र रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

तपस्या की समालोचना करने के पहले उसके स्वरूप पर जरा नज़र डालिए। तपस्या की परिभाषा शास्त्र-कारों नें इस प्रकार की है—

"संयमात्मनः शेषाशयविशोधनार्थं वाह्याभ्यंतरतपनं तपः।"
अथवा "शरीरेन्द्रियतापनात् कर्मनिर्दहनाच्च तपः।"

—श्रीसिद्धसेनगणिकृततत्त्वार्थवृत्ति।

अर्थात् संयमित आत्मा वाला मनुष्य अवशिष्ट कर्म के आशय को नष्ट करने के लिये जो वाह्य और आभ्यंतर को तपावे, उसको तप कहते हैं। अथवा, जिसके द्वारा शरीर और इन्द्रियें तपाई जावें और कर्म-बंधन जलाये जावें, उसको तप कहते हैं।

तात्पर्य यह कि तप कर्म-मल को साफ करने वाला और जलाने वाला है। तप के पहले आत्मा-संयमित होना ही चाहिये। इस दृष्टि से आत्मा के संयमित होने और कर्म-मल के धुलने तथा जलजाने पर आत्मिक विकास एवं दुर्गुणों का नाश होना अवश्यंभावी है।

दूसरे दृष्टिकोण से विचार करिए। तप दस प्रकार के धर्म में से एक धर्म है। धर्म का लक्षण (Definition) उपर्युक्त तत्वार्थ-भाष्य की श्रीसिद्धसेनगणिकृत तत्त्वार्थ-वृत्ति में इस प्रका किया गया है—

" संवरापादनसामर्थ्यनिमित्तं यो, धर्मः । "

आगे धर्म शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार की गई है—

" संवरं धारयति करोति यतस्ततो धर्मः, संवरार्थं चात्मना धार्यत इति धर्मः । "

मतलब यह कि जो संवर का कारण है, जिससे संवर किया जा सके और जो संवर को प्राप्त करने की शक्ति आत्मा में पैदा करे—उसको धर्म कहते हैं। संवर याने आस्रव को रोकना और आस्रव याने कर्म के—पाप एवं पुण्य के आने का मार्ग। क्रोध, मान आदि उपर्युक्त दुर्गुण सभी आस्रव हैं। इस दृष्टि से भी धर्म रूप तप उन दुर्गुणों का अवश्य अवरोधक है। तप धर्म रूप तभी होसकता है, जब वह आस्रव को रोके—संवर को पैदा करे। जिस तप से उपर्युक्त कार्य सिद्ध न हो, उसको धर्म कहना अनुचित है।

पाठकवृन्द ! इस उपर्युक्त विवेचन से आप-लोगों को अवश्य प्रतीत होगया होगा कि तप, आस्रव याने कर्म-बंधन को को रोकता है, संवर को और संवर के प्राप्त करने के सामर्थ्य को आत्मा में पैदा करता है, क्रोध, मान आदि दुर्गुणों को इन के आस्रव रूप होने के कारण नष्ट करता है, और आत्मिक

विकास, पवित्रता, सरलता आदि धर्मो को पैदा करता है । अतः आज समाज में अत्यंत अधिक रूप में तप के करने पर भी उपर्युक्त उत्क्रांति एवं सद्गुण बिलकुल पैदा हुए नहीं मालुम होते, प्रत्युत क्रोधादि दुर्गुण बढे ही दृष्टिगोचर होते हैं, इसका क्या कारण है ?

समाज में भी तप, जब कि, आध्यात्मिक उन्नति एवं पवित्रता का साधन मान कर ही किया जाता है, फिर उसका उलटा परिणाम क्यों होता है ? यदि तप आध्यात्मिक अवनति एवं अपवित्रता का ही कारण है, तो समाज उसे अधिकाधिक क्यों ग्रहण करता जाता है और शास्त्रकारों नें भी उसे क्यों आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से उपादेय बतलाया है ? यदि वह वास्तव में आध्यात्मिक अवनति और अपवित्रता का कारण हो तो उसे तो गर्ह्य एवं त्याज्य ही समझना चाहिये तथा शास्त्रकारों नें भी उसे वैसा ही बतलाना चाहिये । फिर क्या कारण है कि समाज में तप का उलटा परिणाम नजर आता है ? यह अवश्य विचारणीय हैं । इसका विचार करने के पहले तप के प्रकारों पर दृष्टि डाल लेना जरूरी है ।

तप प्रथमतः दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यंतर । बाह्य तप छह प्रकार का है—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपारिसंख्यान रसपारित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश । आभ्यंतर तप भी छह प्रकार का है—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान । बाह्य-तप शरीर से और आभ्यंतर-तप

आत्मा एवं मन से संबंध रखता है। इनका स्पष्टीकरण पाठकगण अन्य जैन-ग्रंथों से करलें। ग्रंथ-गौरव के भय से यहां इनका स्पष्टीकरण नहीं किया जाता। अस्तु।

इन दोनों प्रकार के तपों में दूसरा प्रकार श्रेष्ठ है, क्योंकि वह प्रथम प्रकार की अपेक्षा आत्मा और मन से अधिक निकट संबंध रखता है। उसमें अंतःकरण के व्यापार की प्रधानता रहती है। अतः आंतरिक तप से अंतःकरण की शुद्धि अधिक होती है और अंतःकरण ही तो कर्म-बंधन और उससे छूटने में कारण है। कहा भी है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।"

दूसरे, भावना ही पाप और पुण्य में कारण है। शास्त्रकारों ने ऐसा ही कहा है। इसका स्पष्टीकरण हम ऊपर के परिच्छेद में कर आये हैं। भावना यानि कल्पनाविशेष, विचार-विशेष या इच्छा-विशेष। अतः भावना आंतरिक व्यापार—क्रिया-विशेष है और आंतरिक तप आंतरिक व्यापारवान् है। इस दृष्टिकोण से आंतरिक तप का भावना से निकटतम संबंध होने के कारण वह अधिक रूप से आंतरिक शुद्धि एवं संवर का कारण है। अतः वह बाह्य-तप की अपेक्षा श्रेष्ठ है। अस्तु।

आजकल जो तप का उलटा परिणाम नजर आता है, उसका कारण यह है कि आज-कल समाज सर्वथा एकांतिक रूप से बाह्य-तप की ओर झुका हुआ है। आंतरिक तप के साथ बाह्य-तप किया जाय, तभी वह आत्मिक विकास एवं

शुद्धि का कारण होसकता है, अन्यथा नहीं। विश्वामित्र आदि ऋषियों में जो क्रोधादि दुर्गुण अत्यंत रूप से बढ़े हुए थे, उसका भी यही कारण था।

मतलब यह कि, बाह्य-तप के साथ-साथ अपने आत्मिक एवं मानसिक दोषों की सूक्ष्म-दृष्टि से विश्लेषण-पूर्वक कटुतम आलोचना की जाय, बाद में उसका प्रायश्चित्त और साथ-साथ सर्वज्ञ के आदर्श को संमुख रखकर अपनी आत्मा की तुलनात्मक विवेचना, ईश्वर-भजन एवं ईश्वर-भक्ति की जाय, तब बाह्य-तप से उपर्युक्त दुर्गुण पैदा न होगें, वरन् आध्यात्मिक विकास, पवित्रता, इन्द्रिय-जय आदि सद्गुण प्रकट होगें। ये आलोचना, विवेचना आदि सब ध्यानरूप हैं, और ध्यान आंतरिक-तप है, अतः समाज में आंतरिक-तप पर जोर देना ज्यादा जरूरी है। इसलिए उपर्युक्त दुर्गुणों को देखते हुए आंतरिक तप के बिना किया हुआ बाह्य-तप पाप का साधन बन जाने से अधर्म होजाता है। समाज को इस विचार-सरणि से कुछ गुण-ग्रहण करना चाहिये। अस्तु।

अब हमारी चरित्र-नायिका श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब के उपदेशों से हुई तपस्याओं और स्वयं की कीगई तपस्याओं के ऊपर हमें दृष्टि डालना है। उपर्युक्त विचार-सरणि के अनुसार श्रीमहाराज साहब का बाह्य-तप के साथ-साथ, आंतरिक तप, पर भी लक्ष्य था, और है। हम उनके जीवन में दोनों ही तपों को पाते हैं, उसमें भी आंतरिक तप को विशेष रूप में।

श्रीमहाराज साहब का यह स्वभाव-सा ही बन गया है कि ये जब कभी भी अपने हितकारी स्पष्ट-सत्यमय शब्दों से किसी भी व्यक्ति को बुरा लगा देखती हैं तो तुरंत ही उससे क्षमा-याचना कर लेती हैं। उस समय अन्य व्यक्तियों के समान अपने उच्च पद को ये नहीं देखतीं। यह तो हर समय देखा गया है कि कोई भी व्यक्ति बाहर से आया, उसको, या स्थानीय व्यक्ति को भी घंटा-आधघंटा उपदेश देने का काम पड़ा, तो उपदेश समाप्त होने पर शीघ्र ही उपस्थित मनुष्यों से ज्ञान या अज्ञान में कृत अनुचित व्यवहार, अपराध या अनुचित उक्तिविशेष के लिये तुरन्त क्षमा मांग कर 'मिच्छामि दुक्कडं' देती हैं। पाठकगण इसीसे जान जायेंगे कि श्रीमहाराज साहब में कितना विनय गुण और नम्रता विद्यमान है।

यह भी कई वक्त देखा गया है कि किसी भी अपने से अधिक विद्वान् एवं ज्ञानी श्रावक या बुवा के आने पर ये उसके सन्मान में उठ कर खड़ी होजाती हैं। ये उस समय यह नहीं विचार करतीं कि ये जिस पद पर या जिस वेष में हैं, वह पद और वह वेष उससे कई गुना ऊंचा है। इस प्रकार किया गया ज्ञान एवं ज्ञानी का सम्मान तथा इस प्रकार की गुण-ग्राहकता की भावना अन्य साधु-मुनिराजों में हमें बहुत ही मुश्किल से मिलेगी। पाठकवृन्द! किसी ऊंचे आध्यात्मिक पद पर पहुंची हुई

१ यह एक प्रायश्चित्त-विशेष है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'इच्छामि दुष्कृतम्।' यह जैन-पारिभाषिक शब्द है।

साध्वीजी में इस प्रकार का व्यवहार देख कर हमारी कलम से जबरन ये शब्द निकल पड़ते हैं कि यह तो विनय एवं नम्रता की पराकाष्ठा है।

प्रायश्चित्त को लीजिए, श्रीमहाराज साहब में यह गुण विशेष रूप में विद्यमान है। जरा सा भी कुछ अनुचित व्यवहार का इनको संदेह भी हुआ कि छोटे-से-छोटे व्यक्ति के सामने भी उसका पश्चात्ताप करने लगती हैं।

वैयावृत्य में भी श्रीमहाराज साहब बड़ी तत्पर हैं। अभी तो ये बहुत वृद्ध हैं, तो भी किसी भी अपनी शिष्या की तबियत खराब हुई कि यथाशक्ति उनकी साल-संभाल करने से नहीं चूकतीं। बहुत वक्त तो शक्ति के बाहर भी इनका प्रयत्न हो जाता है। पहले युवावस्था में तो तेज बुखार की हालत में भी ये वैयावृत्य में तत्पर रहती थीं।

श्रीमहाराज साहब की अभी तो आंखें खराब होगई हैं, लेकिन जब तक आंखें अच्छी थीं, तब तक ये बराबर स्वाध्याय में सलग्न रहती थीं। अभी भी मनन एवं उपदेश रूप स्वाध्याय में तो अहर्निश लगी रहती हैं।

ध्यान का तो पूछना ही नहीं। रात को एक-डेढ़ बजे ही ये उठ जाती हैं और सुबह लगभग आठ बजे तक ध्यान, ईश्वर-भजन, जाप आदि में मग्न रहती हैं। दिन को भी समय मिलने पर ध्यान में लीन होजाती हैं। पर्व-दिनों में इनका अधिक-से-अधिक समय ध्यान में ही जाता है।

इस प्रकार आंतरिक तप पर दृष्टि डाल कर अब हम श्रीमहाराज साहब के बाह्य-तप पर नजर डालते हैं।

आसनादि कायक्लेश रूप तप तो इनका रोज हुआ करता है। वृत्तिपरिसंख्यान यानें अभिग्रह आये दिन ये धारण किया ही करती हैं। कई वक्त तो ये बड़ा ही कठिन अभिग्रह धारण करती हैं, जिससे कठिनतम कष्टों को—परीषहों को इन्हें सहन करना पड़ता है।

कई समय ये सूखी रोटी ही खाती हैं। बहुत समय एक-दो प्रकार के अन्नों के सिवाय सर्व खाद्य-पदार्थों का त्याग कर देती हैं। घृत-दुग्ध आदि पदार्थों का भी आये दिन त्याग हुआ ही करता हैं। इस प्रकार रस-परित्याग तप भी इनमें उत्कृष्ट रूप से देखने को मिलता है। विविक्त-शय्यासन और अवमौदर्य के विषय में तो कहने की आवश्यकता ही नहीं, ये तो प्रतिदिन होते ही हैं।

अब अनशन पर आइये। अनशन यानें आहार का परित्याग। इसमें उपवासादि तप शामिल हैं। श्रीमहाराज साहब नें दीक्षा लेने के पहले भी अनशन किया था। उसी अनशन का प्रभाव था कि इनको दीक्षा के लिये आज्ञा मिली। यह हम ऊपर कह आये हैं।

---

१ अमुक आदमी, अमुक वस्तु, अमुक प्रकार से, अमुक वस्तु के साथ देगा तो आहार-पानी लेना, नहीं तो नहीं लेना—इत्यादि प्रकार का नियम धारण करना अभिग्रह कहलाता है।

दीक्षा लेने के बाद संवत् १९४९ में लोहावट में इनका चातुर्मास हुआ था। वहां इन्होंनें ग्यारह उपवास किये। दूसरे वर्ष नागोर के चातुर्मास में नौ उपवास किये। बाद में संवत् १९५१ में पालिताना के चातुर्मास में इन्होंनें पंद्रह उपवास किये। इसके बाद फलोधी के चातुर्मास में बारह और छह उपवास तथा पांच तेले किये। एक समय फलोदी चातुर्मास से लगातार इन्होंनें दो वर्ष तक एकासने किये।

इसके बाद संवत् १९५८ के चातुर्मास में लगातार एक-वीस आयंबिल किये। इसके दूसरे ही वर्ष उदयपुर के चातुर्मास में नव उपवास किये। १९६२ के जालोर के चातुर्मास में नव उपवास किये। इसके बाद १९६४ में फलोधी के चातुर्मास में साठ आयंबिल और नीवि अविच्छिन्न रूप से किये। इसके अलावा उपवास, बेले, आयंबिल, नीवि आदि तप तो आये दिन ये करती ही रहती हैं। एकासने तो ये प्रायः हर समय ही करती हैं।

अब हम इनके उपदेशों से जो तपस्याएं हुईं, उनके ऊपर दृष्टि-पात करेंगें।

विक्रम संवत् १९६४ में श्रीमहाराज साहब का चातुर्मास फलोधी में हुआ। वहां इनके उपदेश से चार मासक्षमण हुए। बाद में १९६८ में गंगधार के चातुर्मास में बहुत से लोगों नें इनके उपदेश से 'वीस स्थानकजी' और 'नवपदजी' की ओली करना शुरू की। ओली एक प्रकार की तपस्या है। इसके

दूसरे ही वर्ष लश्कर में चातुर्मास हुआ। वहां श्रीमहाराज साहब के उपदेशों से तीन मासक्षमण और अविच्छिन्न रूप से एकवीस, सोलह, ग्यारह, नव और आठ आदि उपवास हुए।

इसके बाद ही जयपुर के चातुर्मास में एक मासक्षमण और एकवीस, सोलह, नव तथा आठ उपवास अविच्छिन्न रूप से हुए। संवत् १९७२ के तीवरी चातुर्मास में इनके उपदेश से पंद्रह, सोलह और ग्यारह उपवास हुए। बाद में दूसरे ही वर्ष नागोर में भी पंद्रह, सोलह और ग्यारह उपवास हुए।

संवत् १९७६ में श्रीमहाराज साहब का जामनगर में चातुर्मास हुआ। वहां इनके उपदेश से एक मासक्षमण हुआ। दूसरे ही वर्ष पालिताना के चातुर्मास में इनके उपदेश से तीन मासक्षमण हुए।

इसके बाद १९७८ में फलोधी के चातुर्मास में इनके उपदेश से एक मासक्षमण और सोलह तथा तेरह वगैरह उपवास हुए। बाद में १९८० के बीकानेर के चातुर्मास में चार मासक्षमण एवं एकवीस, सोलह तथा ग्यारह वगैरह उपवासों का तप अच्छा हुआ। इसके दूसरे ही वर्ष नागोर में ग्यारह, नव, आठ आदि उपवास हुए।

बाद में १९८३ के आहोर के चातुर्मास में एक मासक्षमण, एवं उन्नीस, अठारह, सत्तरह, ग्यारह और दस आदि उपवास अविच्छिन्न रूप से किये गये। बाद में १९८५ के गंगधार के चातुर्मास में एक मासक्षमण और अठारह, सत्तरह,

ग्यारह वगैरह उपवास एवं सत्तरह अठाई हुई।

अनंतर महीदपुर में दो मासक्षमण एवं बारह, ग्यारह आदि लगातार उपवास और उन्नीस अठाई हुई। बाद में १९९० और १९९१ के भोपाल के चातुर्मास में एक मासक्षमण, चौदह उपवास और अठाई आदि तप अच्छा हुआ। साथ में 'बीस स्थानकजी,' 'नवपदजी' एवं 'चोवीस भगवान्' की ओलियें अच्छी तादाद में हुई। चैत्रपूर्णिमा का तप भी हुआ। उसी समय टेकराजी पर अठारह, सोलह, ग्यारह और अठाई आदि तप अच्छे हुए। यह सब श्रीमहाराज साहब के उपदेशों का प्रभाव था।

बाद में संवत् १९९२ से १९९५ तक महीदपुर में चातुर्मास हुए। उनमें इनके उपदेश से एक मासक्षमण, तीन ग्यारह, दो बारह और दस, नव आदि उपवास एवं अठाई तप अच्छे हुए।

इनके सिवाय प्रत्येक चातुर्मास में इनके उपदेश से छोटी— उपवास, आयंबिल आदि तपस्याएं, दूसरे तप एवं ज्ञानपंचमी आदि की तपस्याएं हर समय काफी तादाद में हुआ ही करती थीं और अभी भी होती रहती हैं।

चारित्रबल और नैतिकता
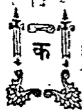
कहावत है कि साधु-धर्म का पालन तलवार की तीक्ष्ण धारा पर चलने के समान है। यह ठीक भी है। साधु-धर्म के नियम इतने कठोर एवं कठिन हैं कि साधारण मनुष्य के लिये, जो कि उत्कृष्ट आत्मबल एवं सहन-शक्ति से विहीन है, उसका पालन करना अशक्य है। अजैन साधुओं के आचार, व्यवहार एवं उनके नियम इतने कठोर नहीं हैं, जितने कि जैन साधुओं के। आज भी निष्पक्षपात दृष्टि से उभय की तुलना की जाय तो हमारे इस कथन की यथार्थता अवश्य प्रतीत होगी। अजैन साधु-लोग वाहन पर आरूढ होते हैं, पावों में खड़ाऊ, जूते वगैरह धारण करते हैं, और सिर पर छत्री रखते हैं। बाज बाज साधु तो हाथी, घोड़ा, पालखी, स्त्री आदि भी रखते हैं। इसके अलावा खान-पान में भी उनको उतनी नियमितता नहीं, जितनी कि जैन साधुओं को होती है। जैन-साधु इन बातों से सर्वथा दूर रहते हैं। कैसा भी शिथिल आचार वाला जैन-साधु क्यों न हो, उसमें भी ये उपर्युक्त बातें देखने को न मिलेंगी। इस दृष्टि से जैन

साधु के धर्म पर ही उपर्युक्त कहावत पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है।

वास्तव में जैन साधु के धर्म बड़े ही कठोर, कठिन और बड़े ही कष्ट से पालन करने योग्य हैं। जैन साधु न तो कभी वाहन पर चढेंगे, न पावों में पाद-त्राण पहनेंगे और न हाथी, घोड़े, स्त्री आदि वस्तु एवं थोड़ी-सी भी संपत्ति पास में रखेंगे। वे क्षौर भी नहीं करवाते। हाथ से ही वालों का लुंचन करते हैं। पैदल ही चलते हैं। अपना सब सामान खुद ही उठाते हैं। अपने निमित्त से नहीं बना हुआ, प्रासुक एवं अचित्त आहार तथा पानी लेते हैं। ठंडे पानी के सचित्त होने से वे उसे ग्रहण नहीं करते। शयन के लिये बिस्तर वगैरह भी नहीं रखते। रात्रि को सूर्यास्त से लेकर प्रातः सूर्योदय तक कुछ भी आहार और पानी नहीं लेते। यहां पर आहार और पानी शब्द से सभी प्रकार का खाद्य एवं पेय पदार्थ लेना चाहिये। इसके अलावा साधु एवं साध्वी कभी एक जगह न रहेंगें। दोनों ही स्त्री एवं पुरुष से सर्वथा अलग रहेंगें, उनका स्पर्श तक भी नहीं करेंगें। और भी जैन साधुओं के सूक्ष्म नियम बहुत से हैं, कई शास्त्र उन नियमों से भरे पड़े हुए हैं, जैसे-दशवैकालिक सूत्र, आचारांग सूत्र आदि। जिज्ञासु पाठकवृन्द उनमें से देख लें। ग्रन्थगौरव एवं अप्रकृतता के भय से वे यहां नहीं लिखे जा सकते। हमनें तो स्थूलदृष्टि से थोड़ा-सा दिग्दर्शन-मात्र करा दिया है। अस्तु।

जैन-धर्म में इतने सूक्ष्म, कठोर एवं कठिनतम नियमों के होते हुए भी आज-कल शिथिलाचारी साधुओं का नास्तित्व नहीं है। लेकिन इतना होते हुए भी वे अजैन साधुओं से कई गुने अधिक संयमी हैं। परंतु इसका मतलब यह नही हुआ कि यह एक सद्गुण है, आचार से शिथिल होना तो हर हालत में निंद्य ही है।

हमारी चरित्र-नायिका श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब में यह एक श्रद्धा पैदा करनेवाली बात है कि उनमें यह आचरण-संबंधी शिथिलता नहीं पाई जाती। अपनी शिष्या में भी कभी थोड़ी-सी भी शिथिलता का आचरण ये देख पाती हैं, तो इन्हें बड़ा दुःख होता है और ये उन्हें अवबोध करने लगती हैं। कई वक्त इस प्रकार अपनी शिष्या पर आचरण-संबंधी शिथिलता के लिये अप्रसन्न होती हुई ये देखी गई हैं।

जैन-शास्त्रों में आपत्ति के समय उन नियमों के कुछ अपवाद भी कहे गये हैं। जैसे—साधुओं को पानी बरसने के समय उपाश्रय से बाहर नहीं निकलना चाहिये, यह एक नियम है। इसका अपवाद श्रीकल्पसूत्र की साधु-समाचारी में प्रतिपादित है। वहां कहा गया है कि फुंवारे रूप में पानी बरस रहा हो, अर्थात् ओढ़ने की कमली के आरपार पानी न निकल आए, ऐसी वर्षा में साधु आहार एवं पानी के लिये जासकता है। श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब इस प्रकार के अपवाद के होते हुए भी उस मूल नियम से रंच-मात्र भी शिथिल नहीं देखी गई हैं। वर्षा में

आये दिन ऐसा मौका आया ही करता है कि पांच-पांच सात-सात दिन या इससे भी अधिक समय तक पानी की झड़ी लग जाया करती है। झड़ी बंद भी हुई तो भी पानी के फुवारें तो बरसते ही रहते हैं। ऐसे समय में इनको कई दिन तक आहार एवं पानी नहीं मिल पाता और फलतः पूर्ण अनशन होजाता है। कई वक्त श्रावक-लोग इस प्रकार की परिस्थिति पैदा होने पर श्रीमहाराज साहब से प्रार्थना करते हैं कि जब कि कल्पसूत्र मे फुवारे बरसने के समय गोचरी के लिये जाने के वास्ते आज्ञा दी गई है, फिर वे क्यों नहीं गोचरी के लिये जातीं। शरीर-रक्षा के लिये तो कम-से-कम उस अपवाद को वे मान लें। लेकिन इसके जवाब में श्रीमहाराज साहब कहते हैं कि यद्यपि कल्पसूत्र में उस प्रकार के अपवाद का विधान है, लेकिन वह है तो अपवाद ही न, औत्सर्गिक नियम तो नहीं है! उस अपवाद को लेकर भी यदि ये अपने नियम से जरा भी शिथिल हुई कि उस उदाहरण को लेकर उनकी शिष्याओं में अधिक शिथिलता घुस आवेगी। इसलिए प्राण भी यदि चले जायँ, ये उस नियम से जरा भी शिथिल नहीं होने की।

पाठकवृन्द! नियम-पालन की कितनी दृढ़ता है! शास्त्रों की आज्ञा होते हुए भी नियम से शिथिल न होना श्रीमहाराज साहब के कितने आत्म-बल एवं सहन-शक्ति का परिचय देता है। यह कार्य अवश्य आदर्श रूप है एवं श्रीमहाराज साहब की महत्ता एवं अपूर्व चारित्र-बल को सूचित करता है।

इस प्रकार हर एक नियम में श्रीमहाराज साहब की दृढ़ता देखी जाती है। क्या खान-पान में और क्या आचार-व्यवहार में, सर्वत्र ये नियमों पर दृढ़-रूपेण स्थित रहती हैं। खान-पान में रस-परित्याग एवं सात्विक आहार-संबंधी नियमों का पूर्ण-रूपेण पालन किया जाता है। पाठकगण इस उपर्युक्त उदाहरण से ही समझ गये होंगे कि हमारी चारित्र-नायिका श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब साधुत्व के नियमों को कितने उत्कृष्ट रूप से परिपालक हैं और इनमें चारित्र-बल कितने उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है। ग्रन्थ-गौरव के भय से हम और अधिक उदाहरण यहां देने में असमर्थ हैं।

वाचक-वृन्द! इस प्रकार श्रीमहाराज साहब के चारित्र-बल पर प्रकाश डाल कर अब हम उनकी नैतिकता के ऊपर दृष्टि डालते हैं।

नीति और धर्म ये पर्यायवाची शब्द हैं। यह धर्म शब्द, उस धर्म शब्द से, जो कि दस प्रकार का शास्त्र-कारों ने बतलाया है, अलग है। यह धर्म शब्द कर्तव्य का पर्याय है। यह अधिकार-भेद से भिन्न-भिन्न होता है, जैसे—राज-धर्म, समाज-धर्म आदि। इसीको अन्य शब्दों में हम राज-नीति और समाज-नीति आदि कह सकते हैं। नीति कुछ इस प्रकार की भी होती है, जो सर्व-साधारण रहती है। इसी को अन्य शब्दों में नैतिकता या नैतिक सदाचरण भी कहते हैं। इसमें मनुष्यता की भावना अंतर्भूत रहती है। अस्तु।

समाज में एक दूसरे व्यक्ति पर सहानुभूति एव समवेदना रखना, एक के विपन्न होने पर अन्य नें यथा-शक्ति एवं यथा-संभव सहायता प्रदान कर उसे उस विपत्ति से निकालने के लिये और उस समय उसे शांति प्रदान करने के लिये प्रयत्न करना आदि सब नैतिक सदाचरण में शामिल हैं।

भगवान् हेमचन्द्राचार्य नें, सिद्धराज जयसिंह के जमाने में श्रीकुमारपाल के, जो कि आगे जाकर सिद्धराज की राज्य-गद्दी पर बैठ कर कुमार-पाल राजा के नाम से प्रसिद्ध हुए, बचाने के लिये जो प्रयत्न किये थे, हालांकि वे कुछ चारित्र की मर्यादा से खिलाफ थे, लेकिन भावि उद्भट जैन-धर्म की प्रभावना की दृष्टि से किये जाने के कारण नीति में ही शामिल हैं।

हमारी चरित्र-नायिका श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब भी अपने भक्तों के लिये सब प्रकार की सहानुभूति रखती हैं। कई वक्त देखा गया है कि श्रीमहाराज साहब को तेज बुखार चढा-हुआ है, अशक्ति के कारण सिर चक्कर खा रहा है और हाथ-पांव धूज रहे हैं, साथ में दो-तीन शिष्याएं चल रही हैं और आप स्वयं अपने अत्यंत रुग्ण श्रावक को भगवान् का नाम एवं धर्मोपदेश सुनाने के लिये जारही हैं।

कितना उत्कृष्ट कर्तव्य का पालन है और कितना उत्कृष्ट नैतिक सदाचरण है!

इसी प्रकार जब ये देखती हैं कि अमुक मनुष्य या अमुक श्रावक भविष्य में जैन-धर्म की प्रभावना करने वाला होगा, तो ये

उसकी उन्नति, विकास एवं उसकी विपत्ति से रक्षा होने के लिये यथा-संभव एवं यथा-शक्ति प्रयत्न करने से कभी नहीं चूकतीं। इस प्रकार का उत्कृष्ट आचरण देख कर इनके कई भक्तगणों के हृदयों में श्रद्धा का वेग उमड़ पड़ता है।

आदर्श-साध्वी रत्नश्री

परिशिष्ट-खंड

साध्वी-समुदाय
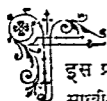
इस प्रकरण में हमें श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब के साध्वी-समुदाय पर दृष्टि डालना है। हम ऊपर के प्रकरण में कह आये हैं कि श्रीमहाराज साहब, श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब की शिष्या—श्रीविवेकश्रीजी महाराज साहब की शिष्या हैं। वास-क्षेप श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब के ही कर-कमलों से डाला गया था। इस नाते से ये श्रीपुण्यश्रीजी महाराज की शिष्या हुईं। सिर्फ नामकरण इनका श्रीविवेकश्रीजी महाराज साहब की शिष्या के रूप में हुआ।

आज श्रीपुण्यश्रीजी महाराज साहब के साध्वी-समुदाय में हमारी चरित्र-नायिका श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब ही सब से बड़ी, वृद्ध, अतएव गुरु-पद पर विराजमान हैं। अभी इनके सारे समुदाय में लगभग पचहत्तर या अस्सी साध्वियें होंगी। इनमें लगभग तीस-चालीस तो इन्हीं के उपदेश से एवं इन्हीं के कर-कमलों से दीक्षित शिष्याएं हैं। इन शिष्याओं की जो शिष्याएं हैं, वे और उनकी भी शिष्याएं श्रीमहाराज के कर-

कमलों से दीक्षित हैं। इस नाते से एवं परंपरागत संबंध से वे सभी श्रीमहाराज साहब की शिष्याएं ही हुईं। इस दृष्टि से यदि इनकी शिष्याओं की गणना की जाय, तो वह लगभग साठ के करीब पहुंचेगी। आज श्रीमहाराज साहब का यह वंश[1] चार पीढ़ी तक पहुंच गया है। उदाहरण-स्वरूप, श्रीमहाराज साहब की शिष्या देवश्रीजी, उनकी शिष्या प्रसन्नश्रीजी और उनकी शिष्या रणजीतश्रीजी। इस हिसाब से रणजीतश्रीजी श्रीमहाराज साहब की वंश-परंपरा में चौथी हुई।

सारे साध्वी-समुदाय में श्रीप्रसन्नश्रीजी महाराज साहब आदि पढे-लिखे हैं एवं होनहार मालुम होते हैं। समाज को उनसे बहुत कुछ आशा है।

इतनी लंबी एवं अधिक-संख्या वाली वंश-परंपरा का होना श्रीमहाराज साहब की पुण्यवत्ता का सूचक है।

---
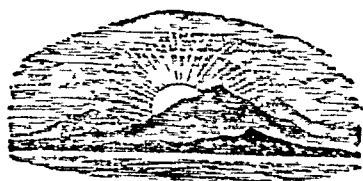
१ महर्षि पतंजलि ने कहा है कि वंश दो प्रकार का होता है, विद्या और जन्म से। यहां पर वंश विद्या-प्रयुक्त समझना चाहिये।

सिंहावलोकन

पाठकवृन्द ! यह प्रस्तुत जीवन-चरित्र समाप्त-प्राय हो चुका है। अब हमें इनके जीवन पर सिंहावलोकन न्याय से फिर एक दृष्टि डालना है। यद्यपि इनके गुणोंका कुछ वर्णन एवं विवेचना ऊपर के प्रकरणों में आ चुकी है, फिर भी सिंहावलोकन न्याय से उन पर फिर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। यह एक रूढ़ि है। गुणों के वर्णन से महापुरुषों की जीवनी का महत्त्व एवं आदर्श जनता को मालुम होता है और वह उनका अनुकरण करने लगती है।

श्रीमहाराज साहब में पहला गुण विनय एवं नम्रता है। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के बाद ये अपने छोटे-से-छोटे बालश्रावक से भी क्षमा-याचना करती हैं। अपने किसी भी हितकारक वाक्य से भी यदि किसी को बुरा लगा तो ये उसके घर पर जाकर उससे क्षमा मांग लेती हैं। यह भी देखा गया है कि इनके दर्शनों के लिये कोई विद्वान् युवा श्रावक भी आया तो ये उसके सत्कार के लिये उठ खड़ी होती हैं। साधुत्व की अवस्था में इस प्रकार का आदर्श बहुत कम देखने को मिलेगा।

ज्ञान एवं ज्ञानी के प्रति कितना विनय है! उत्कृष्ट विनय का स्वरूप देखना हो तो श्रीमहाराज साहब में हमें देखने को मिल जाता है।

दूसरा गुण इनमें सत्य की परमोपासना है। प्रत्येक मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि वह दूसरों के दुर्गुण भले ही देख ले, लेकिन अपने स्वयं के दुर्गुण उसे नज़र आये भी तो उनको प्रकट करना बहुत ही मुश्किल है। ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे, जो अपने दुर्गुणों को भी प्रकट कर दें और अपनी गलती को स्वीकार कर लें। इसके लिये उत्कृष्ट आत्म-बल की आवश्यकता रहती है। श्रीमहाराज साहब में यह गुण बहुत उत्कृष्ट रूप में वर्तमान है। बहुत समय देखा गया है कि बातचीत निकल जाने पर ये अपने दुर्गुणों एवं तुच्छता को बतलाने लगती हैं। इस प्रकार सत्य की परम-उपासना के निदर्शन सर्वत्र नहीं मिलते।

तीसरा गुण श्रीमहाराज साहब में सांप्रदायिकता का अभाव है। आज-कल साधु-साध्वीसमाज में एवं श्रावक-श्राविका-समाज में भी सांप्रदायिकता के भाव बहुत कट्टर रूप में विद्यमान हैं। इसका वर्णन हम ऊपर के प्रकरणों में स्थान-स्थान पर कर चुके हैं। इस प्रकार के संकीर्ण भाव समाज एवं धर्म के लिये बड़े घातक हैं। श्रीमहाराज साहब में इस प्रकार के भाव बिलकुल नहीं हैं; उलटे मौके-मौके पर इन्होंने तो सांप्रदायिकता के भयंकर विष को निकाल फेंकने के लिये बड़ा

सराहनीय प्रयत्न किया है ।

चौथा गुण इनमें सब पर समान-भाव का है । ये छोटे-से-छोटे एवं बड़े-से-बड़े श्रावक पर समान-भाव रखती हैं । सभी संप्रदाय वालों से ये समान-भावना से व्यवहार करती हैं । अन्य संप्रदाय वालों की सेवा करना भी ये अपना परम कर्तव्य समझती हैं । अन्य संप्रदाय के कट्टर लोग भी श्रीमहाराज साहब के परम-भक्त हैं—यह बात श्रीमहाराज साहब की समान-भावना को ही अभिव्यक्त करती है । यह गुण भी आदर्श एवं अनुकरणीय है । इस प्रकार के गुण अन्यत्र हमें बहुत ही कम देखने को मिलेंगे ।

पांचवां गुण इनमें अस्वाद का है । अस्वाद-व्रत बड़ा कठिन है । बड़े-बड़े साधु-मुनिराजों में भी यह गुण नहीं देखने को मिलता । अस्वाद गुण प्रकट होने पर अन्य व्रत बहुत सरल होजाते हैं, और खास कर ब्रह्मचर्य-व्रत । श्रीमहाराज साहब में यह गुण संसारावस्था से ही है । उस समय भी ये सब खाद्य-सामग्री मिलाकर खाती थीं । अभी साधुत्व की अवस्था में भी ये आये दिन अभिग्रह धारण किया ही करती हैं । बहुत वक्त ये सूखी रोटियें ही खाकर शरीर-रक्षा करती हैं ।

छठा और सातवां गुण इनमें कर्तव्य-पालन की दृढ़ता एवं कष्ट-सहिष्णुता है । नीमरी, बदनावर आदि के चातुर्मास इस बात के साक्षी हैं । यहां पर इनको कितने आहार एवं पानी संबंधी घोर परीषह सहन करने पड़े, लेकिन उन सब कष्टों

को सहन करके भी इन्होंने अपने धर्म-प्रचार के कर्तव्यों का भली भांति पालन किया। इतने कठोर परीसह सहन करके धर्म-प्रचार करने वाले व्यक्ति अपने समाज में बहुत कम देखने को मिलेंगे। ये गुण समाज के लिये आदर्श रूप हैं।

आठवां गुण इनमें सरलता है। सरलता की पराकाष्ठा या सरलता का उत्कृष्टतम रूप श्रीमहाराज साहब में हमें देखने को मिलता है। ऐसा भी कहें कि श्रीमहाराज साहब मूर्तिमान् सरलता ही हैं, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। उपदेश देने के बाद सभी से अनुचित उक्ति के लिये ये क्षमा-प्रार्थना कर लेती हैं। यह क्या कम सरलता है?

प्रिय पाठकवृन्द! ये तो हमनें प्रधान-प्रधान गुणों का वर्णन किया है। ऐसे तो महाराज साहब में कई गुण विद्यमान हैं। महात्मा लोग तो गुणाकर ही हुआ करते हैं।

"ऐब भी उनका कोई आखिर करो यारों? बयां;
सुनते सुनते खूबिया जी अपना मतलाने लगा।"

बात बहुत कुछ ठीक है। निष्पक्ष आलोचक का तो यही काम है, लेकिन दोषानुसंधान के आवेश में उसमें सहसा हाथ डालने से अनर्थ की—उस महापुरुष के साथ अन्याय की अधिक संभावना रहती है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी दोष-प्रदर्शन से लाभ कम और हानि अधिक हो जाती है, प्रायः सुकुमार-मति लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और वीत-श्रद्ध होकर गुण-ग्रहण से भी

वंचित हो बैठते हैं।

जैन-समाज के पाठकों में अभी ऐसे शिव-संकल्पशाली मनुष्य बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं, जो जीवनी-रूप क्षीर-सागर के मन्थन से उत्थित दोष-गरल को गले में रख कर पचा जायं और गुण-चन्द्र को मस्तक पर धारण करके इस श्लोक का उदाहरण बनने की क्षमता दिखा सकें—

"गुणदोषौ बुधो गृण्हन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः;
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति।"

चातुर्मासों का संक्षिप्त परिचय

ऊपर के प्रकरणों में श्रीरत्नश्रीजी महाराज साहब के चातुर्मासों का विशृंखल रूप से कुछ परिचय दिया गया है। उनमें कुछ चातुर्मास, उनमें कुछ विशेष कार्य न होने के कारण, छूट भी गये हैं। अतः अब हम यहां सब चातुर्मासों का क्रमानुसार एक चार्ट दे देते हैं, जिससे, सब चातुर्मासों की क्रमवार सूची-सी बन जावेगी और जो चातुर्मास छूट गये हैं, वे भी सिलसिले में आजावेंगें, जिससे पाठकों को अविशृंखल रूप से श्रीमहाराज साहब के चातुर्मासों का अवबोध होने में कठिनाई न पड़ेगी।

अनुक्रम नंबर	संवत्	गांव या शहर के नाम।	साधारण परिचय।
१	१९४८	फलोधी	श्रीआदिनाथ भगवान् के मंदिर का जीर्णोद्धार
२	१९४९	लोहावट	स्वयं ने ग्यारह उपवास किये।
३	१९५०	नागोर	,, नव ,, ,,
४	१९५१	पालिताना	,, पंद्रह ,, ,,

५	१९५२	फलोधी	स्वयं ने बारह और छह उपवास एवं पांच तेले किये । तेरह दीक्षाएं हुई ।
६	१९५३	,,	
७	१९५४	,,	
८	१९५५	तीवरी	संगठन एवं धर्म-प्रचार ।
९	१९५६	बिकानेर	अकाल होने से भयंकर परीषहों का सहन ।
१०	१९५७	कुचेरा	विशेष कार्य नहीं
११	१९५८	जोधपुर	स्वयं नें लगातार एकवीस आयंविल किये ।
१२	१९५९	उदयपुर	स्वयं ने नव उपवास किये ।
१३	१९६०	अजमेर	विशेष कार्य नहीं ।
१४	१९६१	जयपुर	योग की शिक्षा एवं अभ्यास ।
१५	१९६२	जालोर	स्वयं नें नव उपवास किये ।
१६	१९६३	देलंधर	विशेष कार्य नहीं ।
१७	१९६४	फलोधी	स्वयं ने साठ आयंविल और नीवि लगातार की; जेसलमेर का संघ निकला और चार दीक्षाएं हुई ।

अनुक्रम नंबर	संवत्	गांव या शहर के नाम।	साधारण परिचय।
१८	१९६५	जावरा	संगठन एवं आत्मिक प्रभाव।
१९	१९६६	बदनावर	संगठन एवं धर्म-प्रचार।
२०	१९६७	मंदसौर	धर्म-प्रचार।
२१	१९६८	गंगधार	धर्मप्रचार एवं उपदेश-जन्य तप।
२२	१९६९	लश्कर	उपदेश से मासक्षमणादि तप।
२३	१९७०	जयपुर	धर्मप्रचार।
२४	१९७१	,,	
२५	१९७२	तीवरी	उपदेश-जन्य तप एवं धर्म-प्रचार।
२६	१९७३	आहोर	उपदेश-जन्य तप एवं दो दीक्षाएं।
२७	१९७४	जयपुर	विशेष कार्य नहीं।
२८	१९७५	आहोर	उपदेश-जन्य तप।
२९	१९७६	जामनगर	उपदेश से मासक्षमणादि तप।
३०	१९७७	पालिताना	,,

३१	१९७८	फलोधी	उपदेश से मासक्षमणादि तप, जेसलमेर का
३२	१९७९	,,	संघ तथा आत्मिक तेज और प्रभाव।
३३	१९८०	बीकानेर	उपदेश से मासक्षमणादि तप और तीन दीक्षाएं।
३४	१९८१	नागोर	उपदेश-जन्य तप।
३५	१९८२	नयाशहर	धर्म-प्रचार एवं आत्मिक तेज।
३६	१९८३	आहोर	उपदेश से मासक्षमणादि तप और धार्मिक कार्य।
३७	१९८४	फलोधी	उपदेश-जन्य तप।
३८	१९८५	गंगधार	उपदेश से मासक्षमणादि तप।
३९	१९८६	जावरा	उपदेश-जन्य तप एवं धार्मिक कार्य।
४०	१९८७	महीदपुर	उपदेश से मासक्षमणादि तप; धार्मिक कार्य एवं
४१	१९८८	,,	एक दीक्षा।
४२	१९८९	इटारसी	अहिंसा-प्रचार एवं आत्मिक तेज।
४३	१९९०	भोपाल	तप, धार्मिक कार्य, उजमने तथा मंडोदाजी और
४४	१९९१	,,	मकसीजी का संघ आदि।

अनुक्रम नंबर	संवत्	गांव या शहर के नाम।	साधारण परिचय।
४५	१९९२	महीदपुर	उपदेश से मासक्षमणादि तप, धर्म-प्रचार, धार्मिक कार्य, मांडवजी का संघ, [illegible]पट एवं वेदीजी का निर्माण, और दो दीक्षा आदि।
४६	१९९३	,,	
४७	१९९४	,,	
४८	१९९५	,,	
४९	१९९६	,,	

पाठकवृन्द ! इन उपर्युक्त चातुर्मासों में कार्यों का दिग्दर्शन-मात्र कराया है। चातुर्मास [illegible]
[illegible] यहां उसके पहले एवं बाद के समय का भी ग्रहण किया गया है।